हिन्दू धर्म

स्वामी विवेकानन्द

अनुवादक —पण्डित द्वारकानाथ तिवारी,
बी. ए., एल-एल. बी.

(द्वितीय संस्करण)

श्रीरामकृष्ण आश्रम
नागपुर, मध्यप्रदेश

जून १९५०] [मूल्य १॥)

वक्तव्य

'हिन्दू धर्म' का यह द्वितीय संस्करण पाठकों के सम्मुख रखते हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। प्रस्तुत पुस्तक में श्री स्वामी विवेकानन्द द्वारा भारत तथा विदेश में हिन्दू धर्म पर दिये गये भाषणों का संकलन है। उन्होंने अपने इन भाषणों में हिन्दू धर्म के भिन्न भिन्न अंगों पर प्रकाश डाला है तथा उनका सूक्ष्म रूप से विश्लेषण किया है जिससे इस महान प्राचीन धर्म की पूर्ण जानकारी हमें प्राप्त हो जाती है। जो हिन्दू-धर्म-प्रेमी हैं तथा जो इस धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों को जानने के इच्छुक हैं उन्हें इस पुस्तक से बहुत ही लाभ होगा।

यह अनुवाद हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक पं. द्वारकानाथ जी तिवारी, बी. ए., एल-एल. बी., दुर्ग, म. प्र. ने करके दिया है। इस बहुमूल्य कार्य के लिए हम श्री द्वारकानाथ जी के परम कृतज्ञ हैं। उनका यह अनुवाद भाषा तथा भाव दोनों ही की दृष्टि से सच्चा रहा है।

डॉ. पं. विद्याभास्कर जी शुक्ल, एम. एस-सी., पी-एच. डी., प्रोफेसर, कॉलेज ऑफ साइन्स, नागपुर, को भी हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रुफ-संशोधन आदि कार्य में हमें बड़ी सहायता दी है।

हमें विश्वास है कि श्री स्वामीजी के इन स्फूर्तिदायक भाषणों से हिन्दी जनता का विशेष हित होगा।

नागपुर, ता. १-६-१९५० प्रकाशक

अनुक्रमणिका

स्वामी विवेकानन्द

हिन्दू धर्म

१. हिन्दू धर्म की सार्वभौमिकता*

ऐतिहासिक युग के पूर्व के केवल तीन ही धर्म आज संसार में प्रचलित हैं–हिन्दू धर्म, पारसी धर्म और यहूदी धर्म। ये तीनों धर्म अनेकानेक प्रचण्ड आघातों के पश्चात् भी लुप्त न होकर आज भी जीवित हैं—यह उनकी आन्तरिक शक्ति का प्रमाण है। पर जहाँ हम यह देखते हैं कि यहूदी धर्म ईसाई धर्म को नहीं पचा सका वरन् अपने सर्व-विजयी सन्तान–ईसाई धर्म द्वारा अपने जन्मस्थान से निर्वासित कर दिया गया, और केवल मुट्ठी भर पारसी ही अपने महान् धर्म की गाथा गाने के लिये अब अवशेष हैं,— वहाँ भारत में एक के बाद एक अनेकों धर्म पंथों का उद्भव हुआ और वे पंथ वेदप्रणीत धर्म को जड से हिलाते से प्रतीत हुए, पर भयंकर भूकम्प के समय समुद्री किनारे की जलतरंगों के समान यह धर्म कुछ समय के लिये पीछे इसीलिये हट गया कि वह तत्पश्चात् हजार गुना अधिक बलशाली होकर सम्मुखस्थ सब को डुबनेवाली बाढ़ के रूप में लौट आए और जब इन आगन्तुकों के विप्लवों का कोलाहल शान्त हो गया, तब ये सभी धर्म-सम्प्रदाय अपनी जन्म-

---

* सन् १८९३ में शिकागो-धर्म-परिषद में यह निबंध पढ़ा गया था।

दात्री मूल हिन्दू धर्म की विराट काया द्वारा मानो शोषित होकर पचा लिये गये—उसी में समाविष्ट हो गये।

आधुनिक विज्ञान के अत्यन्त नवीन आविष्कार जिसके केवल प्रतिध्वनि मात्र हैं, उस वेदान्त के अत्युच्च आध्यात्मिक भाव से लेकर सामान्य मूर्तिपूजा एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं तक के लिये, और इतना ही नहीं बल्कि बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद—सभी के लिये, प्रत्येक के लिये—हिन्दू धर्म में स्थान है।

तब तो प्रश्न यही उठता है कि वह कौनसा एक बिंदु है, जहाँ पर इतनी विभिन्न दिशाओं में जानेवाली त्रिज्या रेखाएँ केन्द्रस्थ होती हैं? वह कौनसा एक सामान्य आधार है, जिस पर ये इतने परस्पर विरोधी भासनेवाले सब भाव आश्रित हैं? मैं इसी प्रश्न का उत्तर देने का अब प्रयत्न करूँगा।

हिन्दू जाति ने अपना धर्म आप्तवाक्य वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनंत हैं। श्रोताओं को, सम्भव है, यह हास्यास्पद मालूम हो और वे सोचें कि कोई पुस्तक अनादि और अनंत कैसे हो सकती है, परन्तु वेद का अभिप्राय किसी पुस्तकविशेष से नहीं है। वेद का अर्थ है भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न व्यक्तियों द्वारा आविष्कृत आध्यात्मिक तत्वों का संचित कोष। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त मनुष्यों

के पता लगने के पूर्व से ही अपना काम करता चला आया था और आज यदि मनुष्य-जाति उसे भूल भी जाय तो भी वह नियम अपना काम करता ही रहेगा, ठीक वही बात आध्यात्मिक जगत् को चलानेवाले नियमों के सम्बन्ध में भी है। जो नैतिक तथा आध्यात्मिक पवित्र सम्बन्ध एक आत्मा का दूसरी आत्मा के साथ और प्रत्येक आत्मा का परम पिता परमात्मा के साथ हमारे पता लगाने के पूर्व थे, वे ही सम्बन्ध, हम चाहे उन्हें भूल भी जायँ तो भी बने रहेंगे।

इन सत्यसमूहों का आविष्कार करनेवाले ऋषि कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व को पहुँची हुई विभूति जानकर सम्मान देते हैं। श्रोतागणों को यह बतलाते हुये मुझे अत्यन्त हर्ष होता है कि इनमें से कई तो अत्यन्त उच्चपद-प्राप्त स्त्रियाँ भी थीं।

यहाँ पर कोई यह तर्क कर सकता है कि ये आध्यात्मिक नियम नियम के रूप में अनंत भले ही हों, पर इनका आदि तो अवश्य ही होना चाहिये। वेद हमें यह सिखाते हैं कि सृष्टि का (अतएव सृष्टि के इन नियमों का भी) न आदि है, न अन्त। विज्ञान ने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि समग्र विश्व की सारी शक्ति-समष्टि का परिणाम सदा एक सा रहता है। तो फिर यदि ऐसा कोई समय था जब कि किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं था, तो उस समय यह सम्पूर्ण व्यक्त शक्ति कहाँ थी? कोई कोई कहते हैं कि ईश्वर में ही वह सब अन्तर्निहित थी। तब तो ईश्वर कभी निष्क्रिय और कभी सक्रिय हुआ; और इससे तो वह विकारशील हो जायेगा। परन्तु

प्रत्येक विकारशील पदार्थ तो मिश्रित होता है और हरएक मिश्रित पदार्थ में वह परिवर्तन जिसे कि विनाश कहते हैं, अवश्यम्भावी ही है। इस तरह तो ईश्वर की मृत्यु हो जायेगी जो कि सर्वथा असम्भव एवं हास्यास्पद कल्पना है। अतः ऐसा समय कभी नहीं था, जब कि कुछ भी अर्थात् यह सृष्टि नहीं थी। अतएव यह सृष्टि अनादि है।

यदि मैं कोई उपमा दूँ तो स्रष्टा और सृष्टि मानो दो रेखाएँ हैं, जिनका न आदि है, न अन्त और वे परस्पर समानान्तर भी हैं। ईश्वर नित्य क्रियाशील महा-शक्ति है, सर्व विधाता है जिसकी प्रेरणा से प्रलय-पयोधि में से नियमशः एक के बाद एक ब्रह्माण्ड का सृजन हुआ करता है, जिनका कुछ काल तक पालन होता है और तत्पश्चात् वे विनष्ट कर दिये जाते हैं। "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" अर्थात् इस सूर्य और इस चन्द्रमा को विधाता ने पूर्व कल्पों के सूर्य और चन्द्रमा के समान निर्माण किया है—इस वाक्य का नित्य पाठ प्रत्येक हिन्दू बालक प्रति दिन अपने गुरु के साथ किया करता है। और यही सिद्धान्त आधुनिक वैज्ञानिकों का भी है।

यहाँ पर मैं खड़ा हूँ। अपनी आँखें बंद करके यदि मैं अपने अस्तित्व के समझने का प्रयत्न करूँ कि मैं क्या हूँ—'मैं, मैं, मैं'—तो मुझमें किस भाव का उदय होता है? यह शरीर ही मैं हूँ—इस भाव का। तो क्या मैं भौतिक पदार्थों के समूह के सिवाय और कुछ नहीं हूँ? वेदों की घोषणा है—नहीं, मैं शरीर में रहने वाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जायेगा, पर मैं नहीं मरूँगा। मैं इस शरीर

में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही, एवं इस शरीर-ग्रहण के पूर्व भी मैं विद्यमान था। अतः आत्मा किसी पदार्थ से सृष्ट नहीं हुआ है, क्योंकि सृष्टि का अर्थ है भिन्न भिन्न द्रव्यों का एकत्रीकरण और इस एकत्रीकरण का अर्थ होता है भविष्य में अवश्यम्भावी पृथक्करण। अतएव यदि आत्मा का सृजन हुआ, तो उसकी मृत्यु भी होनी चाहिये। इससे सिद्ध हो गया कि आत्मा का सृजन नहीं हुआ था, वह कोई सृष्ट पदार्थ नहीं है। पुनश्च, कुछ लोग जन्म से ही सुखी होते है, पूर्ण स्वास्थ्य का आनंद भोगते हैं, उन्हें सुंदर शरीर, उत्साहपूर्ण मन और सभी आवश्यक सामग्रियाँ प्राप्त रहती हैं। अन्य कुछ लोग जन्म से ही दुःखी होते हैं, किसी के हाथ पांव नहीं होते, तो कोई निर्बुद्ध होते हैं, और येनकेन-प्रकारेण अपने दुःखमय जीवन के दिन काटते हैं। ऐसा क्यों? यदि ये सभी एक ही न्यायी और दयालु ईश्वर के उत्पन्न किये हों तो फिर उसने एक को सुखी और दूसरे को दुःखी क्यों बनाया? भगवान् ऐसा पक्षपाती क्यों है? और ऐसा मानने से भी बात नहीं सुधर सकती कि जो इस वर्तमान जीवन में दुःखी हैं, वे भावी जीवन में पूर्ण सुखी ही रहेंगे। न्यायी और दयालु भगवान् के राज्य में मनुष्य इस जीवन में भी दुःखी क्यों रहे? दूसरी बात यह है कि सृष्टि-उत्पादक ईश्वर को माननेवाले सृष्टि में इस वैषम्य के लिये कोई कारण बताने का प्रयत्न भी नहीं करते। इससे तो केवल एक सर्वशक्तिमान् स्वेच्छाचारी पुरुष का निष्ठुर व्यवहार ही प्रतीत होता है। परन्तु यह

स्पष्ट ही है कि यह कल्पना तर्क विरुद्ध है। अतएव यह स्वीकार करना ही होगा कि इस जन्म के पूर्व के ऐसे कारण होने ही चाहिये जिनके परिणाम में वह व्यक्ति इस जन्म में सुखी या दुःखी हुआ करता है। और ये कारण हैं उसके ही पूर्वानुष्ठित कर्म।

अच्छा, मनुष्य की देह तथा मन उसके पितृ-पितामहादि की देह तथा मन के साथ सादृश्य रखते हैं, ऐसा कहने में क्या उपर्युक्त समस्या का समुचित उत्तर न होगा? यह स्पष्ट है कि जीवनस्रोत जड़ और चैतन्य इन दो धाराओं में प्रवाहित हो रहा है। यदि जड़ और जड़ के विकार ही आत्मा, मन, बुद्धि आदि हम जो कुछ हैं उसके उपयुक्त कारण सिद्ध हो सकते तो फिर और स्वतंत्र आत्मा के अस्तित्व मानने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। पर यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि चैतन्य-शक्ति का विकास जड़ से हुआ है। अतएव यह स्वीकार कर लेने पर कि एक जड़ पदार्थ से सब कुछ सृष्ट हुआ है, यह भी स्वीकार करना निःसंशय युक्तियुक्त होगा कि एक मूल चैतन्य से ही समस्त सृष्टिकार्य का निर्वाह हो रहा है। और यह केवल युक्तियुक्त ही नहीं वरन् वांछनीय भी है। पर यहाँ उसकी आलोचना करने की कोई आवश्यकता नहीं।

अवश्य, यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि कुछ शारीरिक प्रवृत्तियाँ माता-पिता से प्राप्त होती हैं, पर इसका सम्बन्ध तो केवल शारीरिक गठन से ही है, जिसके द्वारा जीवात्मा की कोई विशेष प्रवृत्ति प्रकट हुआ करती है। उसके इस प्रवृत्तिविशेष का

कारण उसके ही पूर्वकृत कर्म हुआ करते हैं। और किसी विशेष प्रवृत्ति वाली आत्मा 'योग्यं योग्येन युज्यते'—* इस नियम के अनुसार वैसे ही शरीर में जन्म ग्रहण करती है, जो उस प्रवृत्ति के प्रकट करने के लिये सब से उपयुक्त आधार हो सके। यह बात पूर्णतया विज्ञान-संगत है; क्योंकि विज्ञान तो प्रत्येक प्रवृत्ति का कारण अभ्यास द्वारा प्राप्त स्वभाव को ही बताती है और अभ्यास तो बारंबार अनुष्ठान का ही फल है। इस प्रकार एक नवजात बालक की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का कारण बताने के लिये पुनःपुनः अनुष्ठित पूर्वकर्मों को मानना आवश्यक हो जाता है। और चूँकि वर्तमान जीवन में इस स्वभाव का अभ्यास नहीं किया गया है, इसलिये वह पूर्व जीवन से ही उसे प्राप्त हुआ है।

इस पर एक शंका की जा सकती है। ये सभी बातें तो ठीक मान ली गईं, पर यह कैसी बात है कि मेरे पूर्व जन्म की कोई बात मुझे स्मरण नहीं है? इसका समाधान तो बहुत सरल है। मैं अभी अंग्रेजी बोल रहा हूँ। वह तो मेरी मातृभाषा नहीं है। सच पूछो तो इस समय मेरी मातृभाषा के कोई भी शब्द मेरे चित्त में उपस्थित नहीं हैं; पर उन शब्दों को सामने लाने का थोड़ा प्रयत्न करते ही वे मेरे मन में उमड़ आते हैं। इससे तो यही सिद्ध होता है कि मानस-समुद्र की सतह पर जो कुछ तैरता है वही हमें बोधगम्य हुआ करता है। और भीतर उसकी गहराई में हमारी

* योग्य वस्तु योग्य वस्तु के साथ युक्त होती है।

समस्त अनुभव-राशि निहित रहती है; केवल प्रयत्न तथा उद्यमपूर्वक मंथन करने की आवश्यकता है। वे सभी अनुभव ऊपरी सतह पर उठ आयेंगे और पूर्व जन्मों की भी स्मृति जाग उठेगी।

पूर्व जन्म के सम्बन्ध में यही साक्षात् प्रमाण है। परीक्षा द्वारा ही किसी मतवाद की सचाई पूर्णतः प्रमाणित होती है। ऋषिगण समस्त संसार को ललकार कर कह रहे हैं कि हमने उस रहस्य का पता लगा लिया है, जिससे स्मृति-सागर की गंभीरतम गहराई तक का मंथन किया जा सकता है—उसका प्रयोग करो और अपने पूर्व जन्मों की सम्पूर्ण स्मृति प्राप्त कर सकोगे।

अतएव देखा जाता है कि हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। "इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, पानी आर्द्र नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।" हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है जिसकी परिधि कहीं नहीं है, यद्यपि उसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है; और मृत्यु का अर्थ केवल इतना ही है कि एक शरीर से दूसरे शरीर में यह केन्द्र स्थानान्तरित हो जाता है। यह आत्मा भौतिक नियमों के वशीभूत नहीं है, स्वरूपतः वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। परन्तु किसी अचिन्त्य कारण से यह अपने को जड़ से बंधा हुआ पाता है और अपने को जड़ ही समझने लगता है।

अब दूसरा प्रश्न यह है कि यह विशुद्ध, पूर्ण और विमुक्त आत्मा इस प्रकार जड़ का दासत्व क्यों करती है ? स्वयं पूर्ण होते हुए भी इस आत्मा को अपूर्णत्व की यह भ्रमात्मक धारणा कैसे हो सकती है ? हमें यह बताया जाता है कि हिन्दू लोग इस प्रश्न से किनारा कस लेते हैं और कह देते है कि ऐसा प्रश्न पूछा ही नहीं जा सकता। कुछ पण्डित लोग आत्मा और जीव दोनों के बीच में कई पूर्णकल्प सत्ताओं के अस्तित्व की कल्पना करते हैं और उन्हें अनेक प्रकार से बड़ी बड़ी वैज्ञानिक संज्ञाएँ दे देते हैं। परन्तु केवल नाम दे देने से ही तो मीमांसा नहीं हो जाती। प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहता है। जो पूर्ण है उसकी पूर्णता किसी भी तरह या किसी भी अंश में कैसे कम हो सकती है ? जो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है उसके उस 'स्वभाव' का अणुमात्र भी व्यतिक्रम कैसे हो सकता है ? पर हिन्दू तो सत्य का निष्कपट पुजारी है। वह मिथ्या तर्कयुक्ति का सहारा नहीं लेना चाहता। वह सत्यनिष्ठ की तरह इस प्रश्न का सामना करने का साहस रखता है, और इस प्रश्न का वह यही उत्तर देता है कि "पूर्ण आत्मा अपने को अपूर्ण कैसे समझने लगी, जड़ पदार्थों के संयोग से अपने को जड़-नियमाधीन कैसे मानने लगी, यह मैं नहीं जानता। पर बात यथार्थ में जैसी है, वैसी ही रहती है। यह बात यथार्थ में हर किसी को विदित है कि वह अपने को शरीर मानता है।" वह यह समझाने का प्रयत्न नहीं करता कि ऐसा क्यों होता है, वह शरीर में क्यों है। यह

ईश्वर की इच्छा है यह उत्तर इस शंका का कोई समाधान नहीं हो सकता। यह उत्तर तो हिन्दू के "मै नहीं जानता" उत्तर से किसी प्रकार अधिक यथार्थ नहीं है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की आत्मा अनादि और अमर है, पूर्ण और अनन्त है, और मृत्यु का अर्थ है, एक शरीर से दूसरे शरीर में केवल केन्द्र-परिवर्तन। वर्तमान हमारे ही पूर्वानुष्ठित कर्मों द्वारा निश्चित होता है और भविष्य वर्तमान कर्मों द्वारा। और प्रगत या दुर्गत होती हुई यह आत्मा जन्म और मृत्यु के चक्र में लगातार घूमती रहेगी। पर यहाँ दूसरा प्रश्न यह उठता है—क्या मनुष्य उस छोटी सी नौका के समान है, जो प्रचण्ड तूफान में पड़कर एक क्षण किसी वेगवान् तरंग के फेनमय शिखर पर चढ़ जाती है और दूसरे क्षण भयानक गड्ढे में नीचे ढकेल दी जाती है—मनुष्य क्या इस प्रकार अपने अच्छे और बुरे कर्मों के नितान्त परवश होकर केवल इधर-उधर भटकता फिरता है—क्या वह कार्य-कारण के सततप्रवाही, सर्वकष, भीषण तथा गर्जनशील प्रवाह में पड़ा हुआ शक्तिहीन निस्सहाय नगण्य जीव है?—पतिशोक से व्याकुल विधवा के आँसुओं तथा अनाथ बालक की आहों की तनिक भी परवाह न करते हुए अपने मार्ग की सभी वस्तुओं को कुचल डालने वाले कर्म-चक्र में पड़कर कुचला जाने वाला कीटाणु ही क्या मनुष्य है? इस प्रकार के विचार से अन्तःकरण तो काँप उठता है, पर प्रकृति का नियम तो यही है। तो फिर क्या कोई आशा ही नहीं

है ? इससे बचने का कोई मार्ग नहीं है ?—यही करुण पुकार निराशा-विह्वल हृदय के अन्तस्तल से ऊपर उठी और उस करुणानिधान विश्वपिता के सिंहासन तक जा पहुँची। वहाँ से आशा तथा सान्त्वना की वाणी निकली और एक वैदिक ऋषि के अन्तःकरण में प्रेरणा रूप में आविर्भूत हुई। ईश्वरी शक्ति द्वारा अनुप्राणित इस महर्षि ने संसार के सामने खड़े होकर घन-गम्भीर स्वर से इस आनन्द-संदेश की घोषणा की—"ऐ अमृत के पुत्रगण, ऐ दिव्य धामवासी देवगण, सुनो—मैंने उस अनादि पुरातन पुरुप को पहिचान लिया है, जो समस्त अज्ञान-अंधकार और माया के परे है, केवल उस पुरुष को जानकर ही तुम मृत्यु के चक्कर से छूट सकते हो। * अन्य कोई पथ नहीं है। "अमृत के अधिकारी !"—कैसा मधुर और आशाजनक सम्बोधन है ! बन्धुओ ! उसी मधुर नाम से मुझे आपको पुकारने दो। 'ऐ अमृत के अधिकारीगण !' सचमुच ही हिन्दू तुम्हें पापी कहना अस्वीकार करता है। तुम तो ईश्वर की सन्तान हो, अमर आनंद के अधिकारी हो, पवित्र और पूर्ण आत्मा हो। तुम इस मर्त्यभूमि पर

---

* शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः ।
आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥
× × ×
वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।
आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति ।
नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ॥-श्वेताश्वतर उपनिषद्, २-५, ३-८

देवता हो ! तुम पापी ? मनुष्य को पापी कहना ही महा पाप है। विशुद्ध मानव आत्मा को तो यह मिथ्या कलंक लगाना है। उठो ! आओ ! ऐ सिंहो ? तुम भेड़ हो इस मिथ्या भ्रम को झटककर दूर फेंक दो। तुम तो जरा-मरण-रहित एवं नित्यानंदमय आत्मा हो। तुम जड़ पदार्थ नहीं हो। तुम शरीर नहीं हो। जड़ पदार्थ तो तुम्हारा गुलाम है, तुम उसके गुलाम नहीं।

वेद घोषणा करते हैं कि यह सृष्टि-व्यापार अनेक भयावह, निर्दय अथवा निर्मम विधानों का प्रवाह नहीं है, और न यह कार्य-कारण का एक अच्छेद्य बन्धन ही है। वरन् वेद यही घोषित करते हैं कि इन सब प्राकृतिक नियमों के मूल में, प्रत्येक अणु-परमाणु तथा शक्ति में ओतप्रोत वही एक पुराण पुरुष विराजमान हैं— 'जिनके आदेश से वायु चलती है, अग्नि दहकती है, बादल बरसते हैं और मृत्यु पृथ्वी पर इतस्ततः नाचती है।' *

और उस पुरुष का स्वरूप क्या है ? वह सर्वव्यापी, शुद्ध, निराकार, सर्वशक्तिमान् है, सब पर उनकी पूर्ण दया है। "तू हमारा पिता है, तू हमारी माता है, तू हमारा परम प्रेमास्पद सखा है, तू ही सभी शक्तियों का मूल है। हमें शक्ति दे। तू ही इन अखिल भुवनों का भार वहन करनेवाला है; हे प्रभो, मुझे इस छोटे से जीवन के

* भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

—कठोपनिषद्, २।३।३

क्षुद्र भार को वहन करने में सहायता दे।" वैदिक ऋषियों ने यही गाया है। हम उसकी पूजा किस प्रकार करें? प्रेम द्वारा ही उसकी पूजा की जा सकती है। "उस परम प्रेमास्पद की पूजा उसे ऐहिक तथा पारत्रिक समस्त प्रिय वस्तुओं से भी अधिक प्रिय जानकर करनी चाहिए।"

वेद हमें शुद्ध प्रेम के सम्बन्ध में इसी प्रकार की शिक्षा देते हैं। अब यह देखा जाय कि भगवान् श्रीकृष्ण ने, जिन्हें हिन्दू लोग पृथ्वी पर ईश्वर का पूर्णावतार मानते हैं, इस प्रेम के पूर्ण विकास की साधना के सम्बन्ध में हमें क्या उपदेश दिया है।

उन्होंने कहा है कि मनुष्य को इस संसार में पद्मपत्र की तरह रहना चाहिये। पद्मपत्र जैसे पानी में रहकर भी उससे भीगता नहीं, उसी प्रकार मनुष्य को भी संसार में रहना चाहिये—उसका हृदय ईश्वर की ओर लगा रहे और उसके हाथ निर्लिप्त भाव से कर्म करने में लगे रहें।

इहलोक या परलोक में पुरस्कार की प्रत्याशा से ईश्वर से प्रेम करना बुरी बात नहीं, पर केवल प्रेम के लिये ही ईश्वर से प्रेम करना सब से अच्छा है। और उसके निकट यही प्रार्थना करना उचित है—"हे भगवन्, मुझे तो न सम्पत्ति चाहिये, न संतति, न विद्या। यदि तेरी इच्छा है, तो सहस्रों विपत्तियों को सहन करूँगा। पर हे प्रभो, केवल इतना ही दो कि मैं फल की आशा छोड़कर

तेरी भक्ति करूँ, केवल प्रेम के लिये ही तुझ पर मेरा निःस्वार्थ प्रेम हो।" * भगवान् श्रीकृष्ण के एक शिष्य, धर्मनंदन युधिष्ठिर उस समय के भारत के सम्राट थे। उनके शत्रुओं ने उन्हें राजसिंहासन से च्युत कर दिया था और उन्हें अपनी साम्राज्ञी के साथ हिमालय पर्वत के जंगल में आश्रय लेना पड़ा था। वहाँ एक दिन साम्राज्ञी ने उनसे प्रश्न किया,—"हे नाथ, आप इतने धार्मिक हैं कि लोग आपको धर्मराज कहते हैं। परन्तु ऐसा होते हुए भी आप को इतना दुःख क्यों सहना पड़ता है?" युधिष्ठिर ने उत्तर दिया, "महारानी, देखो यह हिमालय कैसा उत्तुंग और सुंदर है। मैं इससे प्रेम करता हूँ। यह मुझे कुछ नहीं देता; पर मेरा स्वभाव ही ऐसा है कि मैं उदात्त और सुंदर वस्तु पर प्रेम करता हूँ और इसी कारण मैं उस पर प्रेम करता हूँ। उसी प्रकार मैं ईश्वर पर प्रेम करता हूँ। वही अखिल सौन्दर्य, समस्त सुषमा का मूल है। वही एक ऐसा पात्र है, जिस पर प्रेम करना चाहिये। उस पर प्रेम करना मेरा स्वभाव है और इसीलिये मैं उस पर प्रेम करता हूँ। मैं किसी बात के लिये उससे प्रार्थना नहीं करता, मैं उससे कोई वस्तु नहीं माँगता। उसकी जहाँ इच्छा हो, मुझे रखे। मैं तो सब अवस्थाओं में केवल प्रेम के

---

* न धनं न जनं न च सुन्दरीं
कवितां वा जगदीश कामये।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि॥

—श्री चैतन्य महाप्रभु

लिये ही उस पर प्रेम करना चाहता हूँ, मैं प्रेम में सौदा नहीं कर सकता।"*

वेद कहते हैं कि आत्मा ब्रह्म स्वरूप है, वह केवल पंचभूतों के बंधनों में बंध गया है और उन बंधनों के टूटने पर वह अपने पूर्व पूर्णत्व को प्राप्त हो जायेगा; इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता—अपूर्णता, जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि से छुटकारा।

आत्मा का यह बंधन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है और उसकी दया शुद्ध, पवित्र स्वभाववाले लोगों को ही प्राप्त होती है। अतएव पवित्रता ही उनके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है; जब उनकी कृपा होती है तब शुद्ध या पवित्र हृदय में वे आविर्भूत होते हैं। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर-दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। "तब, और केवल तभी उसकी समस्त कुटिलता नष्ट हो जाती है, सभी संदेह दूर हो जाते हैं।"†

---

* नाहं कर्मफलान्वेषी राजपुत्रि चराम्युत।
ददामि देयमित्येव यजे यष्टव्यमित्युत॥
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाच्चैव मे धृतम्।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम्॥
—महाभारत, वनपर्व, ३१।२।५

† भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यंते सर्व संशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
—मुण्डकोपनिषद्, २।२।८

मनुष्य कर्म-फल के भयानक नियमों के हाथ का खिलौना नहीं बना रहता। यही हिन्दू धर्म का मुख्य लक्ष्य है—यही उस धर्म का असल भाव है। हिन्दू शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में समय बिताना नहीं चाहता। यदि इस साधारण वैषयिक जीवन के परे और भी कोई लोक है, कोई अतीन्द्रिय जीवन है तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़ वस्तु नहीं है, यदि कोई दयामय सर्वव्यापी परमात्मा है, तो वह उसका साक्षात्कार कर लेना चाहता है; कारण ईश्वर के केवल प्रत्यक्ष दर्शन से ही उसकी समस्त शंकाएँ दूर होंगी। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में, ईश्वर के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है कि "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है।" और यही तो पूर्णत्व की एकमात्र अवस्था है। वाद-विवादों तथा भिन्न-भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने के प्रयत्नों से हिन्दू धर्म नहीं बना है। वरन् हिन्दू धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार का धर्म है। केवल विश्वास का नाम हिन्दू धर्म नहीं। हिन्दू धर्म का मूलमंत्र है, 'मैं आत्मा हूँ यह विश्वास होना और तदनुसार तद्रूप बन जाना।'

हिन्दुओं की सारी साधना-प्रणाली का लक्ष्य यही है कि सतत अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बनना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट जाकर उसका दर्शन करना। और इसी प्रकार ईश्वरसान्निध्य को प्राप्त कर उनका दर्शन कर लेना, उन्हीं सर्वलोक-पिता ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना—यही असल में हिन्दू धर्म है।

और जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है, तब उसका क्या होता है? तब तो वह असीम आनंद का जीवन व्यतीत करता है। वह समस्त अन्य लाभों की अपेक्षा उत्कृष्ट लाभ स्वरूप परमानन्दधाम ईश्वर को प्राप्त करके परम आनंद का अधिकारी हो जाता है। यहाँ तक सभी हिन्दू एकमत हैं। भारत के भिन्न भिन्न पंथों का सर्वसामान्य धर्म यही है।

परन्तु अब तो यह प्रश्न उठता है कि तुरीय अथवा निर्विकल्प अवस्था का ही नाम पूर्णावस्था है और यह निर्विकल्प अवस्था तो एक मात्र अद्वितीय और गुणातीत है जिसमें व्यक्तित्व कदापि नहीं रह सकता। अतः जब आत्मा पूर्णत्व को, इस निर्विकल्प अवस्था को पहुँच जाता है तब वह ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाता है तथा द्वैतज्ञानपरिशून्य हो जाने के कारण वह स्वयं ही सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं आनंदस्वरूप होजाता है। हम इस अवस्था के विषय में किन्हीं किन्हीं पाश्चात्य दार्शनिकों की पुस्तकों में बारम्बार पढ़ा करते हैं कि वह अपने व्यक्तित्व को खोकर जड़ता प्राप्त करता है या पत्थर के समान बन जाता है। इससे उन पण्डितों की अनभिज्ञता ही दीख पड़ती है, क्योंकि "जिन्हें चोट कभी नहीं लगी है वे ही चोट के दाग की ओर हँसी की दृष्टि से देखते हैं।"

मैं तुम्हें बताता हूँ कि ऐसी कोई बात नहीं होती। अगर इस एक क्षुद्र शरीर में आत्मबोध होने से इतना आनंद होता है तो दो शरीरों में आत्मबोध का आनंद अधिक उत्कट होना चाहिये

और उसी तरह क्रमशः अनेक शरीरों में आत्मबोध के साथ साथ आनंद की मात्रा भी अधिकाधिक बढ़नी चाहिये और जब विश्व-आत्मा का बोध हो जायगा तो आनंद की परम-अवस्था प्राप्त हो जायगी और मानव जीवन का यही चरम लक्ष्य है।

अतः इस असीम विश्वात्मक व्यक्तित्व की प्राप्ति के लिये इस दुःखमय क्षुद्र व्यक्तित्व के बन्धन का अन्त होना चाहिये। जब मैं प्राणस्वरूप हो जाऊँगा, तभी मृत्यु के हाथ से मेरा छुटकारा हो सकता है। जब मैं आनंदस्वरूप हो जाऊँगा, तभी दुःख का अन्त हो सकता है। जब मैं ज्ञानस्वरूप हो जाऊँगा, तभी सब अज्ञान का अन्त हो सकता है, और विज्ञान भी अन्त में इसी सिद्धान्त पर आ पहुँचा है। विज्ञानशास्त्र ने हमें यह सिद्ध कर दिया है कि हम इस देह को जो प्रत्यक्ष और एकभावापन्न मानते हैं वह भ्रम है, हमारा यह भौतिक व्यक्तित्व भ्रम मात्र है। वास्तव में इस निरवच्छिन्न जड़ सागर में यह क्षुद्र शरीर तरंगवत् सदा परिवर्तित होता रहता है, अर्थात् प्रति क्षण ही नवीन होता रहता है। अतएव हमारा चैतन्यांश कभी परिवर्तनशील या भ्रमात्मक न होने के कारण पूर्णतया सत्य है। और इसी कारण केवल यही अद्वैत ज्ञान कि 'मैं एक मात्र अद्वितीय आत्मा हूँ' एक युक्तियुक्त सिद्धान्त है।

विज्ञान एकता की खोज के सिवाय और कुछ नहीं है। ज्योंही कोई भी विज्ञान शास्त्र पूर्ण एकता तक पहुँच जाता है, त्योंही उसका और आगे बढ़ना रुक जाता है; क्योंकि तब तो वह

अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुकता है। इसी तरह रसायन-शास्त्र जब एक बार उस एक द्रव्य का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह शास्त्र और आगे नहीं बढ़ सकेगा। पदार्थविज्ञान-शास्त्र जब उस एक शक्ति का—जिस शक्ति की अन्य शक्तियाँ विभिन्न रूप हैं—पता लगाकर अपना सेवाकार्य पूर्ण कर लेगा, तब उसे रुक जाना होगा और धर्म-शास्त्र भी उस समय पूर्णता को प्राप्त हो जायगा, जब वह उस एक मात्र मूल कारण को जान लेगा जो इस मर्त्यलोक में एक मात्र अमृतस्वरूप है, जो इस नित्य परिवर्तनशील जगत् का एक मात्र अचल अटल आधार है, जो केवल एक मात्र परमात्मा है, जिनकी अन्य सब आत्माएँ प्रतिबिंब स्वरूप हैं। इस प्रकार अनेकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि के द्वारा इस अन्तिम अद्वैत की प्राप्ति हुई। धर्मशास्त्र इससे आगे नहीं जा सकता। यही सभी ज्ञान का—एक के बाद एक सभी शास्त्रों का—चरम उद्देश्य है।

सभी शास्त्र अन्त में इसी सिद्धान्त को पहुँचने वाले हैं। आज तो विज्ञानशास्त्र इस दृश्यमान जगत् को 'सृष्टि' नाम देना नहीं चाहता, वह उसे विकास मात्र कहता है। और हिन्दू को बड़ी खुशी इस बात की है कि जिस सिद्धान्त को वह अपने अन्तःकरण में इतने दिनों से धारण किये हुए था, वही सिद्धान्त आज बड़ी ज़ोरदार भाषा में, विज्ञान के अत्यन्त आधुनिक प्रयोगों द्वारा अत्यन्त स्पष्ट रूप से सिद्ध करके, सिखाया जा रहा है।

अब हम वेदान्तदर्शन के उत्तुंग शिखर से नीचे उतरकर साधारण अशिक्षित लोगों के धर्म की ओर आते हैं। प्रारम्भ में मैं तुम्हें बता देना चाहता हूँ कि भारतवर्ष में अनेकेश्वरवाद नहीं है। प्रत्येक मंदिर में यदि कोई खड़ा होकर सुने, तो वह यही पाएगा कि भक्तगण सर्वव्यापित्व से लेकर ईश्वर के सभी गुणों का आरोप उन मूर्तियों में करते हैं। यह अनेकेश्वरवाद नहीं है, और न इसका नाम 'कोई देवताविशेष का प्राधान्यवाद' ही हो सकता है। गुलाब को चाहे दूसरा कोई भी नाम क्यों न दे दिया जाय पर वह सुगंध तो वैसी ही मधुर देता रहेगा। केवल नाम ही से तो किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता।

मेरे बचपन की एक बात मुझे यहाँ याद आती है। एक ईसाई पादरी कुछ मनुष्यों की भीड़ जमा करके धर्मोपदेश कर रहा था। बहुत सी मज़ेदार बातों के साथ वह पादरी यह भी कह गया कि "अगर मैं तुम्हारी देवमूर्ति को एक डंडा लगाऊँ, तो वह मेरा क्या कर सकती है?" एक श्रोता ने चट चुभता-सा जबाब दिया कि "अगर मैं तुम्हारे ईश्वर को गाली दे दूँ, तो वह मेरा क्या कर सकता है?" पादरी बोला, "मरने के बाद वह तुम्हें सज़ा देगा।" हिन्दू भी तनकर बोल उठा, "तुम मरोगे तब ठीक उसी तरह हमारी देवमूर्ति भी तुम्हें योग्य पुरस्कार देगी!" वृक्ष अपने फलों से जाना जाता है। जब मूर्ति-पूजकों में मैं ऐसे मनुष्यों को पाता हूँ कि चारित्र्य, आध्यात्मिक भाव और प्रेम में उनकी बराबरी का कहीं कोई

नहीं पाया जाता तब तो मैं रुककर यही सोचता हूँ—"क्या पाप से भी पवित्रता की उत्पत्ति हो सकती है ?"

अंधविश्वास मनुष्य का महान् शत्रु है, पर हठधर्मी तो उससे भी बढ़कर है। अच्छा, ईश्वर यदि सर्वव्यापी है तो फिर ईसाई गिरजाघर नामक एक स्वतंत्र स्थान में क्यों उसकी आराधना के लिए जाते हैं? क्यों वे क्रॉस को इतना पवित्र मानते हैं? प्रार्थना के समय आकाश की ओर मुँह क्यों करते हैं? कैथोलिक ईसाइयों के गिरजाघरों में इतनी बहुत सी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? और प्रोटेस्टेंट ईसाइयों के हृदय में प्रार्थना के समय इतनी बहुत सी भावमयी मूर्तियाँ क्यों रहा करती हैं? मेरे भाइयो! मन में किसी मूर्ति के बिना आये कुछ सोच सकना उतना ही असम्भव है, जितना कि श्वास लिये बिना जीवित रहना। स्मृति की उद्दीपक भाव-परम्परा के अनुसार जड़ मूर्ति के दर्शन से मानसिक भावविशेष का उद्दीपन हो जाता है अथवा मन में भावविशेष का उद्दीपन होने से तदनुरूप मूर्तिविशेष का भी आविर्भाव होता है। इसीलिये तो हिन्दू आराधना के समय बाह्य प्रतीक का उपयोग करता है। वह आपको बतलायेगा कि यह बाह्य प्रतीक उसके मन को, जिस परमेश्वर का यह ध्यान करता है, उसमें एकाग्रता से स्थिर रखने में सहायता देता है। वह भी उतनी ही अच्छी तरह से जानता है जितना कि आप जानते हैं कि वह मूर्ति न तो ईश्वर ही है, और न सर्वव्यापी ही। सब कुछ देखते हुये आखिर बहुतेरे मनुष्य और सच पूछिये तो दुनिया के प्रायः सभी मनुष्य

सर्वव्यापित्व का क्या अर्थ समझते हैं! वह तो केवल एक शब्द या प्रतीक मात्र है। क्या परमेश्वर का भी कोई क्षेत्रफल है? अगर नहीं तो जिस समय हम सर्वव्यापी शब्द का उच्चारण करते हैं, उस समय विस्तृत आकाश या विशाल भूमि-खण्ड की ही कल्पना हम अपने मन में लाते हैं। इससे अधिक और कुछ नहीं।

हम यही देखते हैं कि हमारी मानसिक प्रकृति के नियमानुसार किसी न किसी कारण से हमारी अनन्तत्व की कल्पना नील आकाश या अपार समुद्र से सम्बद्ध हो जाती है; उसी तरह हम पवित्रता के भाव को अपने अपने स्वभावानुसार गिरजाघर, मसजिद या क्रॉस से जोड़ देते हैं। हिन्दू लोग पवित्रता, नित्यत्व, सर्वव्यापित्व आदि आदि भावों का सम्बन्ध विभिन्न देवमूर्तियों से जोड़ते हैं, पर अन्तर यही रहता है कि जहाँ कुछ लोग अपना सारा जीवन किसी गिरजाघर की मूर्ति की भक्ति में ही बिता देते हैं और उससे आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि उनके लिये तो धर्म का अर्थ यही है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों को वे अपनी बुद्धि द्वारा स्वीकृत कर लें और अपने मानव भाइयों की भलाई करते रहें—वहाँ एक हिन्दू की सारी धर्मभावना प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार में केन्द्रीभूत हुआ करती है। मनुष्य को ईश्वर का साक्षात्कार करके स्वयं ईश्वर बनना है। मूर्तियाँ, मन्दिर, गिरजाघर या शास्त्र ग्रन्थ ये तो धर्मजीवन की बाल्यावस्था में केवल आधार या सहायक मात्र हैं; पर उसे तो उत्तरोत्तर उन्नति ही करनी चाहिये।

साधक को किसी अवस्था पर रुकना नहीं चाहिये। वेदों का वाक्य है कि "बाह्यपूजा या मूर्तिपूजा सबसे नीचे की अवस्था है; आगे बढ़ने का प्रयास करते समय मानसिक प्रार्थना साधना की दूसरी अवस्था है, और सब से उच्च अवस्था तो वही है, जब कि परमेश्वर का साक्षात्कार हो जाये।"* ध्यान रखो कि वही अनुरागी साधक जो पहले मूर्ति के सामने झुककर पूजा-प्रणामादि में मग्न रहता है, वही ज्ञान लाभ के पश्चात् तुम्हें बतलाता है—"सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता है, न चंद्रमा या तारागण ही; वह विद्युत्प्रभा भी परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती और न वह वस्तु जिसे हम अग्नि कहते हैं; बल्कि उसी परमेश्वर के कारण ये सब प्रकाशित होते हैं।"§ पर वह साधक अब बाह्य मूर्तिपूजा से अतीत हो चुका है, इसलिए अन्य धर्मियों की तरह वह मूर्तिपूजा को गाली नहीं देता और न उसे पाप का मूल ही बताता है। वह तो उसे जीवन की एक आवश्यक अवस्था जानकर उसको स्वीकार करता है। "बाल्य

---

*उत्तमो ब्रह्मसद्भावो ध्यानभावस्तु मध्यमः।
स्तुतिर्जपोऽधमोभावो बहिःपूजाऽधमाधमा॥
—महानिर्वाण तन्त्र, चतुर्थ उल्लास, १२

§न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥
—कठोपनिषद् २।२।१५

ही यौवनादि का जन्मदाता है।" क्या किसी वृद्ध पुरुष का अपने मुँह से बचपन या युवावस्था को पाप या बुरा कहना उचित होगा?

इसके सिवाय मूर्तिपूजा हिन्दू धर्म का आवश्यक अंग भी तो नहीं है। केवल इतना ही कि अगर कोई मनुष्य अपने ब्रह्मभाव को मूर्ति के सहारे अधिक सरलता से अनुभव कर सकता है, तो क्या उसे पाप कहना ठीक होगा? और जब वह उस अवस्था के परे पहुँच गया है, तब भी उसके लिए मूर्तिपूजा को भ्रमात्मक कहना उचित नहीं है। हिन्दू की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य को नहीं जा रहा है, वह तो सत्य से सत्य की ओर, निम्न श्रेणी के सत्य से उच्च श्रेणी के सत्य की ओर अग्रसर हो रहा है। हिन्दू के मतानुसार क्षुद्र अज्ञानी के धर्म से लेकर वेदान्त के अद्वैतवाद तक जितने धर्म हैं वे सभी अपने अपने जन्म तथा अवस्था-भेद के अनुसार उस अनन्त ब्रह्म के ज्ञान तथा उपलब्धि के उपाय हैं और ये उपाय उन्नति की सीढ़ियाँ हैं। प्रत्येक जीव उस युवा गरुड़ पक्षी के समान है, जो धीरे धीरे ऊँचा उड़ता हुआ तथा अधिकाधिक शक्ति सम्पादन करता हुआ अन्त में उस प्रकाशमय सूर्य तक पहुँच जाता है।

विभिन्नता में एकता—यही प्रकृति की रचना है और हिन्दुओं ने इसे भलीभाँति पहिचाना है। अन्य धर्मों में कुछ निर्दिष्ट मतवाद विधिबद्ध कर दिये गये हैं और सारे समाज को उन्हें मानना अनिवार्य कर दिया जाता है। वे तो समाज के सामने केवल एक ही नाप की कमीज़ रख देते हैं, जो राम, श्याम, हरि सब के शरीर में

ज़बरदस्ती ठीक होनी चाहिये। और यदि वह कमीज़ राम या श्याम के शरीर में ठीक नहीं बैठती, तो उसे नंगे बदन–बिना कमीज़ के ही रहना होगा। हिन्दुओं ने यह जान लिया है कि निरपेक्ष ब्रह्म-तत्व की उपलब्धि, धारणा या प्रकाश केवल सापेक्ष के सहारे से ही हो सकता है। और मूर्तियाँ, क्रॉस या चाँद ये तो केवल आध्यात्मिक उन्नति के सहाय्यस्वरूप हैं। वे मानो बहुत सी खूटियाँ हैं, जिनमें धार्मिक भावनाएँ अटकाई जाती हैं। ऐसी बात नहीं है कि प्रत्येक के लिये इन साधनों की आवश्यकता हो, पर बहुतों के लिये तो यह आवश्यक हुआ ही करते हैं और जिनको अपने लिये इन साधनों की सहायता की आवश्यकता नहीं रहती, उन्हें यह कहने का कोई अधिकार नहीं कि इन साधनों का आश्रय लेना अनुचित है।

यहाँ एक बात बतला देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में मूर्तिपूजा कोई भयोत्पादक विषय नहीं है, वह व्यभिचार की जननी नहीं है, वरन् वह तो असंस्कृत अनधिकारी मन के लिये उच्च आध्यात्मिक भाव को ग्रहण करने का उपाय है। अवश्य, हिन्दुओं के दोष हुआ करते हैं, उनमें कभी कभी अपवाद भी रहते हैं, पर यह ध्यान रखिये कि उससे वे सदा अपने ही शरीर को दण्ड देने के लिये तत्पर रहते हैं, न कि अन्य धर्मावलम्बियों का गला काटने के लिये। एक धर्मान्ध हिन्दू चाहे चिता पर अपने आप को जला डाले, पर वह विधर्मियों को जलाने के लिये अग्नि कभी भी प्रज्वलित नहीं

करेगा, जैसा कि यूरोप में Inquisition के जमाने में ईसाइयों ने किया था। फिर भी इस बात के लिये उसका धर्म इससे अधिक दोषी नहीं समझा जा सकता, जितना कि डाइनों को जलाने का दोष ईसाई धर्म पर मढ़ा जा सकता है। यह तो उसकी व्यक्तिगत दुर्बलता है। तब तो हिन्दुओं की दृष्टि में समस्त धर्म भिन्न भिन्न रुचिवाले स्त्री-पुरुषों का विभिन्न अवस्थाओं तथा परिस्थितियों को पार करते हुये ईश्वरलाभ के उस एक उद्देश्य की ओर यात्रा करना-अग्रसर होना मात्र है। प्रत्येक धर्म का लक्ष्य जड़भाव पन्न मानव में ब्रह्म का प्रकाश होना ही है और वही ब्रह्म इन सभों का प्रेरक है। तो फिर ये धर्म इतने परस्पर विरोधी क्यों हैं? हिन्दुओं का कहना है कि ये विरोध केवल आभास मात्र हैं,—वास्तविक नहीं। एक ही सत्य वस्तु भिन्न भिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न प्रकृति के अनुसार परस्पर विरुद्ध भाव धारण करती है।

ज्योति तो वही है, पर भिन्न भिन्न रंग के काँच में से भिन्न भिन्न रूपसे प्रकट होती है। और विभिन्न स्वभाव वाले लोगों के लिए उपयुक्त होने की दृष्टि से यह वैचित्र्य आवश्यक भी है; परन्तु सभी धर्मों में एक ही सत्य विराजमान है। कृष्णावतार में भगवान् ने हिन्दुओं को यह उपदेश दिया है, "प्रत्येक धर्म में मैं, मौक्तिकमाला में सूत्र की तरह, पिरोया हुआ हूँ। जहाँ भी तुम्हें मानव सृष्टि को उन्नत बनाने वाली और पावन करनेवाली अत्युच्च पवित्रता और विशेष शक्ति दिखाई दे तो जान लो कि मैं ही वहाँ विराजमान

हूँ।" * और इस शिक्षा का परिणाम क्या हुआ है? सारे संसार के सामने मेरा यह दावा है कि संस्कृत-दर्शन-शास्त्र के समग्र ग्रंथों में कोई मुझे एक भी ऐसी उक्ति दिखा दे कि केवल हिन्दुओं का ही उद्धार होगा और दूसरों का नहीं। भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास का वचन है, "हमारी जाति और सम्प्रदाय की सीमा के बाहर भी पूर्णत्व को पहुँचे हुये मनुष्य हैं।"+

हाँ एक बात और। ईश्वर में ही अपने सभी भावों को केन्द्रित करनेवाला हिन्दू, अज्ञेयवादी बौद्धधर्म और निरीश्वरवादी जैन धर्म पर कैसे श्रद्धा रख सकता है?

यद्यपि बौद्ध तथा जैनी ईश्वर पर निर्भर नहीं रहते, तथापि उनके धर्म में प्रत्येक धर्म के केन्द्रस्थ "मनुष्य में देवत्व या ईश्वरत्व का विकास" इस महान् सत्य पर ही पूरा जोर दिया गया है। उन्होंने जगत्पिता जगदीश्वर को नहीं, पर उसके पुत्र स्वरूप आदर्श मनुष्य बुद्ध देव या 'जिन' को तो देखा है। और जिसने पुत्र को देख लिया उसने पिता को भी देख लिया।

---

* मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।

× × ×

यद्यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम्॥

—भगवद्गीता, १०।४१

× × ×

+ अन्तरा चापि तु तद् दृष्टेः।

—वेदान्त सूत्र, ३।४।३६

भाइयो! हिन्दुओं के धार्मिक विचारों का यही संक्षिप्त विवरण है। हो सकता है कि हिन्दू अपनी सम्पूर्ण योजना के अनुसार कार्य न कर सका हो, पर यदि कभी कोई सार्वभौमिक धर्म हो सकता है, तो वह ऐसा ही होगा जो देश या काल से मर्यादित न हो; जिस अनन्त भगवान् के विषय में वह धर्म उपदेश देता है, उसी के समान वह धर्म भी अनन्त हो; जिसकी ज्योति श्रीकृष्ण के भक्तों पर और ईसा के प्रेमियों पर, संतों पर और पापियों पर भी समान रूप से प्रकाशित होती हो; जो धर्म न तो ब्राह्मणों का हो, न बौद्धों का, न ईसाइयों का और न मुसलमानों का—वरन् इन सभी धर्मों का समष्टि-स्वरूप होते हुए भी जिसमें उन्नति का अनंत पथ खुला रहे; जो अपनी विश्वव्यापकता के भीतर सृष्टि के प्रत्येक मनुष्य को अपने असंख्य बाहुओं द्वारा आलिंगन करते हुये उसके लिये स्थान रखे, चाहे वह मनुष्य हिंसक पशु से किंचित् ही उच्च, अति नीच, निर्दय और जंगली ही क्यों न हो अथवा अपने मस्तिष्क और हृदय के सद्गुणों के कारण मानव समाज से इतना ऊंचा उठ गया हो कि साधारण मनुष्य उसके प्रति भययुक्त आदर के कारण उसकी मानवी प्रकृति में शंका करते हों। वह विश्वधर्म ऐसा धर्म होगा कि उसमें अविश्वासियों पर अत्याचार करने या उनके प्रति असहिष्णुता प्रकट करने की नीति नहीं रहेगी, वह धर्म प्रत्येक स्त्री और पुरुष के ईश्वरीय भाव को स्वीकार करेगा; जिसका सम्पूर्ण बल मनुष्य मात्र को अपनी सच्ची ईश्वरीय प्रकृति के साक्षात्कार करने के लिये सहायता देने में ही केन्द्रित रहेगा।

आप ऐसा सार्वभौमिक उदार धर्म सामने रखिये और सभी राष्ट्र आपके अनुयायी बन जायेंगे। सम्राट अशोक की धर्मसभा केवल बौद्धधर्मियों की ही थी। अकबर बादशाह की धर्म-परिषद् अधिक उपयुक्त होती हुई भी, केवल दरबार की शोभा की ही वस्तु थी। पर 'प्रत्येक धर्म में ईश्वर है,' इस बात की घोषणा दुनिया के सभी प्रदेशों में कर देना मानो अमेरिका की ही भाग्य में छोड़ा गया था।

वही परमेश्वर जो हिन्दुओं का ब्रह्म, पारसियों का अहुरा-मज़दा, बौद्धों का बुद्ध, मुसलमानों का अल्ला, यहूदियों का जिहोवा और ईसाइयों का स्वर्गस्थ परमपिता है, आपको अपने उदार उद्देश्य को कार्यान्वित करने की शक्ति प्रदान करे। तारा पूर्व-गगन में उदित हुआ, धीरे धीरे पश्चिम की ओर—कभी धुंधला और कभी दैदिप्य-मान—यात्रा करते करते उसने जगत् की परिक्रमा कर डाली और अब वह पुनः पूर्व क्षितिज में हज़ार गुनी अधिक उज्ज्वलता के साथ उदित हो रहा है। ऐ स्वाधीनता की मातृभूमि कोलम्बिया !* तू धन्य है! तूने अपने पड़ोसियों के रक्त से अपना हाथ कभी कलंकित नहीं किया, तूने अपने प्रतिवेशियों का सर्वस्व अपहरण कर सहज में ही धनी और सम्पन्न होने की चेष्टा नहीं की। अतएव तू ही सभ्य जातियों में अग्रसर होकर शान्तिपताका उड़ाने की अधिकारिणी है।

---

*अमेरिका का दूसरा नाम। कोलम्बस ने इसका आविष्कार किया था इसलिये इसका नाम कोलम्बिया पड़ा।

२. वेदप्रणीत हिन्दू धर्म *

यहाँ सब से अधिक तो हमें आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी धार्मिक विचारों तथा धर्म के अन्य सब अंगों के विषय में ही विचार करना है। प्रथमतः संहिता को लीजिये। ये स्तोत्रों के संग्रह हैं और मानो ये ही अत्यन्त प्राचीन आर्यसाहित्य—या सचमुच में संसार के ही सब से पुरातन साहित्य हैं। इनसे भी और पुराने साहित्य के कुछ छोटे-मोटे अंश यहाँ-वहाँ भले ही रहे हों, पर उन्हें यथार्थतः ग्रन्थ या साहित्य नहीं कहा जा सकता। संकलित ग्रंथ के रूप में यही संसार में प्राचीनतम हैं और इसी में आर्यों की आदिकालीन भावनाएँ, उनकी आकांक्षाएँ तथा उनकी रीति-नीति के सम्बन्ध में उठानेवाले प्रश्न आदि चित्रित हैं। प्रारम्भ में ही हमें एक बहुत विचित्र विचार मिलता है। इन स्तोत्रों में भिन्न देवों की स्तुतियाँ हैं—उन्हें देव अर्थात् द्युतिमान कहते हैं। ये देव अनेक हैं। उनमें से एक है इन्द्र, दूसरे वरुण, मित्र, पर्जन्य आदि आदि। एक के बाद एक, पौराणिक और रूपक कथाओं के विभिन्न पात्र क्रमशः हमारे सामने आते हैं। उदाहरणार्थ—वज्रधारी इन्द्र मनुष्य-लोक से वर्षा को रोकने वाले सर्प पर वज्र का आघात करते दिखता है। फिर वह अपने वज्र को फेंकता है, सर्प मर जाता है और वर्षा की झड़ी लग जाती है। लोगों में प्रसन्नता छा जाती है और वे यज्ञ द्वारा इन्द्र की पूजा

* पश्चिम में दिया हुआ एक व्याख्यान।

करते हैं। वे यज्ञवेदी बनाते हैं, पशु की बलि देकर उसके पके मांस का नैवेद्य इन्द्र को अर्पण करते हैं। सोमलता उनकी एक प्यारी वस्तु थी। वह लता क्या थी यह आज कोई नहीं जानता; उसका अब बिलकुल लोप हो गया है, पर ग्रन्थों से मालूम होता है कि उसे कुचलने से दूध के समान एक रस निकलता था। उसमें खमीर उठाया जाता था और यह भी पता लगता है कि ऐसा सोमरस नशीला होता था। इसे भी वे इन्द्र एवं अन्यान्य देवताओं को निवेदित करते थे और स्वयं भी पीते थे। कभी कभी वे इसे कुछ अधिक पी लेते थे और इसी तरह देवता लोग भी। किसी किसी समय इन्द्र नशे में चूर हो जाते थे। कुछ ऋचाएँ ऐसी भी मिलती हैं कि इन्द्र एक बार इस सोमरस को बहुत अधिक पी गये और असम्बद्ध बातें करने लगे। वैसा ही वरुण के सम्बन्ध में है। ये भी एक देवता हैं, जो बहुत शक्तिसम्पन्न हैं; वे भी उसी प्रकार अपने भक्तों की रक्षा करते हैं और वे भक्त सोमरस अर्पण कर उनका जयगान गाते हैं। युद्ध-देवता आदि की भी यही बात है; पर अन्य पौराणिक कथाओं की अपेक्षा संहिता की कथाओं में वैशिष्ट्य लानेवाली एक मुख्य बात यह है कि इन देवताओं में से प्रत्येक के साथ अनंतत्व की कल्पना सम्बद्ध है। कभी कभी यह अनंतत्व 'आदित्य' नाम से वर्णित किया गया है और अन्य स्थानों में वह दूसरे देवताओं से ही सम्बद्ध कर दिया गया है। उदाहरणार्थ, इन्द्र को लीजिये। किसी किसी सूक्त में आप देखेंगे कि इन्द्र देवधारी हैं, अत्यन्त शक्तिशाली

हैं, कभी कभी स्वर्णकवच पहिनते हैं और नीचे उतरकर अपने भक्तों के साथ रहते हैं, भोजनादि करते हैं, असुरों से और सर्पों से लड़ते हैं इत्यादि। फिर और एक दूसरे सूक्त में इन्द्र को बहुत उच्च पद दिया गया है, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वान्तर्यामी आदि गुणों से वह मण्डित किये गये हैं। वैसा ही वरुण के सम्बन्ध में। यह वरुण वायुदेवता हैं, जल पर इनका अधिकार है, जैसे पहले इन्द्र का था; कुछ समय के पश्चात् हम देखते हैं कि वे अकस्मात् उच्च पद पर उठा दिये गए हैं और उन्हें भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान आदि विशेषण दिये जाने लगे। वरुण देव के इस सर्वोच्च स्वरूप को अभिव्यक्त करनेवाला एक सूक्त मैं पढ़ूँगा, जिससे आप मेरा अभिप्राय समझ जायेंगे। उस सूक्त का अनुवाद अंग्रेजी कविता में भी हो गया है, जिसका अर्थ यह है:–

"यह शक्तिसम्पन्न प्रभु स्वर्ग से हमारे कार्यों को अपनी आँखों के सामने होते हुये से देखते हैं। देवतागण मनुष्यों के कार्यों को जानते हैं, यद्यपि मनुष्य चाहते हैं कि अपने कार्य छिपाकर करें। कोई खड़ा हो, चलता हो, चुपके से एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता हो या अपनी निभृत गुफा में बैठा हो–उसके सभी हाल-चाल का पता देवतागण पा जाते हैं। जब कभी दो मनुष्य गुप्त सलाह करते हैं और सोचते हैं कि हम अकेले हैं, तो तीसरे राजा वरुण भी वहाँ रहा करते हैं और उनके सब मनसूबों को जान जाते हैं। यह वसुधा उनकी है, यह विस्तीर्ण अनंत आकाश भी उन्हीं का

है, दोनों महासागर उन्हीं में स्थित हैं, तथापि वह तो उस छोटे से जलाशय में ही वास करते हैं। जो कोई गगनमण्डल के उस पार भी उड़कर जाना चाहे तो वह वहाँ भी राजा वरुण के पंजे से नहीं बच सकता। उसके गुप्तचर आकाश से उतरकर संसार में सब ओर चुपके से विचरते रहते हैं और उनके सहस्र नेत्र, जो बहुत छानबीन करते हुये बारीकी से देखते रहते हैं, पृथ्वी की सुदूर सीमा तक अपनी निगाह फैलाये रहते हैं।"

उसी प्रकार हम और देवताओं के विषय में भी अनेक उदाहरण दे सकते हैं। वे सभी क्रमशः एक के बाद एक उसी प्रकार दिखाई देते हैं—वे प्रथम तो देवताओं के रूप में दिखते हैं और उसके बाद उनके विषय में यह विचार उपस्थित किया जाता है कि वे ऐसे 'पुरुष' हैं जिनमें सारा ब्रह्माण्ड अवस्थित है, जो प्रत्येक हृदय को देखनेवाले साक्षी हैं और जो विश्व के शासनकर्ता हैं। इस वरुण देव के सम्बन्ध में और भी एक भाव है, उस भाव का केवल अंकुर ही फूटा था कि आर्यों के मन ने उसे वहीं कुचल डाला और वह है भय का भाव। एक अन्य स्थान पर हम पढ़ते हैं कि उन्हें अपने किये हुए पाप के कारण भय लगता है और वे वरुण से क्षमा माँगते हैं। भारत में भय के भाव और पाप के भाव—इन दो भावों को बढ़ने नहीं दिया गया; इसका कारण आप बाद में समझ जाएंगे, तथापि इनके अंकुर तो फूटने को ही थे। इसी को—जैसा कि आप सब जानते हैं—एकेश्वरवाद कहते हैं। इस एकेश्वरवाद

का उदय भारत में अति प्राचीन काल में ही हुआ था। सम्पूर्ण संहिताओं में, उनके आदिम और अत्यन्त पुराने भाग में यह एकेश्वरवाद सम्बन्धी विचार आया है, पर हम देखेंगे कि आर्यों के लिये इतना ही पर्याप्त नहीं जचा और वे उसे दूर हटा कर—जैसा कि हम हिन्दू सोचते हैं—आगे बढ़े। यह तो ठीक ही है कि जब कोई हिन्दू पाश्चिमात्य पण्डितों द्वारा लिखित वेद सम्बन्धी पुस्तकों और टीका-टिप्पणियों में यह पढ़ता है कि हमारे ग्रंथकर्ताओं के लेखों में केवल यही उपयुक्त शिक्षा भरी है, तब तो उसे हँसी आये बिना नहीं रहती। जिन्होंने बचपन से ही मानो अपनी माँ के दूध के साथ यह विचार ग्रहण किया है कि ईश्वर एक 'व्यक्ति' है, ईश्वर के विषय में यही जिनकी अत्युच्च धारणा है, वे लोग स्वभावतः ही भारत के प्राचीन तत्ववेत्ताओं के समान विचार करने का साहस नहीं कर सकते; विशेषकर उस समय जब वे देखते हैं कि संहिता के बाद ही एकेश्वरवाद की कल्पना को जिससे संहिता भरी हुई है, आर्यों ने निरर्थक पाया, तत्त्ववेत्ताओं और दार्शनिकों के लिये अनुपयुक्त पाया और इसलिए वे आर्य अधिक तात्विक एवं अतीत सत्य की खोज में विशेष परिश्रम करने लगे। उनकी दृष्टि में एकेश्वरवाद अत्यन्त मानुषिक दिखा, यद्यपि वे उसके वर्णन में "सम्पूर्ण विश्व उसी में भ्रमण करता है," "तू ही सभी के अन्तःकरणों का नियामक है" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते हैं। हिन्दू लोग साहसी थे और उनको इस बात का श्रेय देना चाहिये कि वे अपने सभी विचारों को बड़े साहस

के साथ सोचते थे, यहाँ तक कि उनके विचार की एक चिनगारी मात्र से पश्चिम के साहसी कहलाने वाले तत्ववेत्ता डर जाते हैं। इन तत्त्ववेत्ताओं के सम्बन्ध में प्रोफेसर मैक्समूलर ने यह ठीक ही कहा है कि ये लोग इतनी अधिक उँचाई तक चढ़े कि वहाँ उनके ही फेफड़े सांस ले सकते थे, दूसरों के फेफड़े तो इतनी ऊँचाई में फट गये होते। वे धीर पुरुष बुद्धि के पीछे-पीछे, जहाँ वह ले गई, वहीं चले। इस यात्रा में उन्होंने किसी भी प्रकार का त्याग शेष नहीं रखा, इसमें उनके अंधविश्वास के कितने बड़े बड़े विषय नष्ट भ्रष्ट हो गए। समाज उनके विषय में क्या सोचेगा, या उन्हें क्या कहेगा, इन बातों की उन्होंने तनिक भी परवाह नहीं की उन्होंने तो केवल वही उपदेश दिये और वही बातें कहीं, जिन्हें उन्होंने ठीक और सच समझा।

प्राचीन वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करने के पूर्व हम यहाँ पर वेदों में से एक दो विशिष्ट बातों का उल्लेख करेंगे। इन देवताओं की मानो क्रमशः एक के बाद दूसरे की बड़ाई की जाती है, प्रभुता बतलाई जाती है, और उनकी महिमा उस अनंत विश्वसंचालक 'ईश्वर' नामक 'व्यक्ति' की पदवी तक बढ़ा दी जाती है। ऐसा क्यों किया जाता है इस शंका के समाधान की आवश्यकता है। प्रोफेसर मैक्समूलर इसके लिये एक नया अभिधान देते हैं; वे कहते हैं कि यह हिन्दुओं की विशेषता है;

वे इसे हेनोथिज़्म * नाम से पुकारते हैं। वास्तव में इसे समझने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं। इसकी यथार्थ मीमांसा तो उन वेदों में ही है। उसी स्थान से कुछ आगे, जहाँ इन देवताओं का वर्णन है, उनकी बड़ाई की गई है, महिमा गाई गई है, हमें अपनी शंका का समाधान मिलता है। प्रश्न यह उठता है कि हिन्दुओं की पौराणिक कथाएँ अन्य जातियों की इन कथाओं की अपेक्षा इतनी वैशिष्ट्यपूर्ण तथा विभिन्न क्यों हैं? बेबिलोनिया या ग्रीस देश की पौराणिक कथाओं में हम देखते हैं कि एक देवता आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है और एक उच्च अवस्था में पहुँचकर वहीं जम जाता है तथा दूसरे देवता मर जाते हैं। जिहोवा सब से श्रेष्ठ बन जाता है और अन्य सब देवताओं को लोग भूल जाते हैं; वही देवाधिदेव के आसन पर विराजमान हो जाता है। उसी तरह यूनानी देवताओं में 'जिउस' नामक देवता प्राधान्य लाभ करता है, उत्तरोत्तर अधिकाधिक महिमान्वित होता हुआ अन्त में विश्वविधाता के सिंहासन पर आरूढ़ हो जाता है। अन्य सभी देवता क्षीणप्रभ होकर साधारण देवदूतों की श्रेणी में समाविष्ट हो जाते हैं। इसी घटना की पुनरावृत्ति उत्तर कालीन इतिहास में भी पाई जाती है। बौद्ध और जैन लोग भी अपने एक धर्म-प्रचारक को ईश्वर का स्थान देते हैं और अन्य देवताओं को बुद्ध या 'जिन' देव के अधीन मानते हैं। यही प्रणाली समस्त संसार के धर्मेतिहास में प्रचलित है, परन्तु एक ही स्थान पर मानो इसका व्यतिक्रम होते दिखाई देता है।

* Henotheism–अनेक देवताओं में से एक को सर्वप्रधान मानकर पूजा करना।

किसी एक देवता की स्तुति की जाती है और कुछ समय तक यह कहा जाता है कि अन्य सब देवता केवल उसके आज्ञाकारी हैं और जिस देवता के वरुण द्वारा बढ़ाये जाने की बात कही गई है, वही देवता स्वयं ही दूसरे मण्डल में सर्वोच्च पद को पहुँच जाता है। बारी बारी से ये देवता ईश्वर नामक व्यक्ति के पद पर स्थापित हो जाते हैं। इसकी मीमांसा तो उसी ग्रन्थ में पाई जाती है–वह सचमुच अद्भुतरम्य है–जो फिर भारत में उत्तर कालीन विचारों का विषय बन गई है और वही सारे संसार के धार्मिक क्षेत्र में आध्यात्मिक चिन्ता का विषय बनी रहेगी–और वह है "एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति।"—सत्ता एक है, ऋषिगण उसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं। इन सभी स्तोत्रों में जहाँ इन देवताओं की महिमा गाई गई है, उसी एक परम पुरुष का दर्शन होता है, भेद तो दर्शन करने वालों ने ही माना है। स्तोत्रगायक, ऋषि और कवि जो भिन्न भिन्न भाषा और भिन्न भिन्न शब्दों में महिमा गाते हैं, उसी एक परम पुरुष की स्तुति करते हैं। "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"—सत्ता एक ही है, ऋषियों ने उसके भिन्न भिन्न नाम दिये हैं। इस एक मंत्र पर से बहुत से महत्वपूर्ण परिणाम निकले हैं। सम्भवतः आप लोगों में से कुछ को तो यह सुनकर आश्चर्य होता होगा कि भारत ही एक ऐसा देश है जहाँ विधर्मियों पर अत्याचार कभी नहीं हुआ है और जहाँ किसी भी मनुष्य को उसके धार्मिक विश्वास के कारण तंग नहीं किया गया है। आस्तिक, नास्तिक, अद्वैतवादी,

द्वैतवादी, एकेश्वरवादी सभी वहाँ वास करते हैं और एक साथ बिना द्वेषभाव के रहते हैं। ब्राह्मणों के मन्दिरों के दरवाजों पर जड़-वादियों को देवताओं के विरुद्ध और प्रत्यक्ष परमेश्वर के विरुद्ध भी प्रचार करने दिया गया। वे देश भर में यह उपदेश देते फिरे कि ईश्वर को मानना निरा अन्धविश्वास है, देव-देवता, वेद और धर्म आदि बातें निरा अन्धविश्वास है। पुरोहितों ने अपने स्वार्थ और लाभ के लिये वे गढ़ ली हैं। इस प्रकार प्रचार करने वाले उपदेशकों पर भी अत्याचार नहीं किया गया। तभी तो जहाँ कहीं श्रीबुद्ध देव पहुँचे, वहीं उन्होंने हिन्दुओं द्वारा पवित्र मानी जाने वाली सभी वस्तुओं को मिट्टी में मिला देने का प्रयत्न किया। और बुद्ध देव ने तो बहुत वृद्ध होकर शरीर-त्याग किया। वही हाल जैनियों का था। वे तो ईश्वर के अस्तित्व की कल्पना की हँसी उड़ाते थे। उनका कहना यही था कि ईश्वर हो ही कैसे सकता है? ईश्वर की कल्पना तो केवल अन्धविश्वास है। इसी प्रकार अनेकों अन्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस्लाम धर्म की लहर भारत में प्रविष्ट होने के पूर्व धार्मिक अत्याचार का नाम भी नहीं सुना जाता था। विधर्मी विदेशियों द्वारा हिन्दुओं पर ही जब यह अत्याचार हुआ, तभी उन्होंने इसे प्रथम बार अनुभव किया। अभी भी यह बात सभी जानते हैं कि ईसाइयों के गिरजाघर बनाने में हिन्दुओं ने कितनी सहायता दी, और उन्हें सहायता देने के लिये कहाँ तक वे सदैव तत्पर रहते हैं। धर्म के नाम पर खूनखराबी कभी नहीं की गई। सनातन हिन्दू धर्म के अतिरिक्त

भारत की भूमि पर उत्पन्न हुए अन्य धर्मों का भी वही हाल रहा है—जैसा कि बौद्धधर्म का। बौद्ध धर्म कई दृष्टि से महान् धर्म है, पर बौद्ध धर्म को और वेदान्त को समान समझना भूल है, निरर्थक है; ईसाई धर्म में और मुक्तिफौज (Salvation Army) में जो अन्तर है, उसे हर एक देख सकता है। बौद्ध धर्म में कई महत्वपूर्ण अच्छी अच्छी बातें हैं, पर ये बातें ऐसे मनुष्यों के पल्ले पड़ गई, जो उसे सुरक्षित रखने में असमर्थ थे। तत्वज्ञानियों के दिये हुये रत्न सर्व साधारण जनसमूह के हाथ में पड़ गये और उन लोगों ने उन विचारों को ग्रहण कर लिया। उनमें काफी उत्साह, कुछ अपूर्व विचार तथा भूतदया के उच्च भाव भी थे, पर सब कुछ होते हुये भी इन सब बातों को सुरक्षित रखने के लिये एक और ही वस्तु की आवश्यकता हुआ करती है—वह है बुद्धि और विचार। जहाँ कहीं भी तुम देखोगे कि भूतदया का उच्च आदर्श सर्व साधारण जनसमूह के पल्ले पड़ गया है, वहाँ उसका प्रथम परिणाम तो तुम्हें अधःपतन ही दिखाई देगा। इन बातों को सुरक्षित रखने वाली तो विद्या और बुद्धि ही होती है। अस्तु।

संसार के सामने प्रचारक-धर्म के रूप में सर्व प्रथम बौद्ध धर्म ही आया और उस ज़माने की सारी सभ्य जातियों में उसका प्रचार किया गया, पर उस धर्म के लिये कहीं एक बूंद भी खून नहीं गिराया गया। हम इतिहास में देखते हैं कि किस प्रकार चीन देश में बौद्ध प्रचारकों पर अत्याचार किया गया, एक के बाद एक

दो तीन बादशाह ने हजारों प्रचारकों की हत्या करवाई, परन्तु उसके बाद अन्त में बौद्धों का भाग्य चमका। एक बादशाह ने उन अत्याचारियों से बदला लेना चाहा, पर बौद्ध प्रचारकों ने इनकार कर दिया। इन सब घटनाओं के लिये हम उसी एक मंत्र के ऋणी हैं। इसीलिये मैं चाहता हूँ कि तुम इस मंत्र को याद रखो,–" जिसे इन्द्र, मित्र वरुण कहते हैं–वह सत्ता केवल एक ही है : ऋषि लोग उसे भिन्न भिन्न नामों से पुकारते हैं।"

सभी आधुनिक विद्वान चाहे जैसा कहें, पर यह कोई नहीं जानता कि यह मंत्र कब लिखा गया–कौन जाने वह ८००० वर्ष पूर्व लिखा गया हो या ९००० वर्ष पूर्व। इनमें से कोई भी धार्मिक विचार आधुनिक नहीं कहा जा सकता, पर यह आज भी उतना ही नवीन है, जितना कि वह लिखने के समय था। इतना ही नहीं, आज वह अधिक नवीन है; क्योंकि उस पुराने ज़माने में मनुष्य समाज उतना सभ्य नहीं था, जितना सभ्य उसे हम आज समझते हैं। उस ज़माने में वह अपने से थोड़ा भिन्न विचार रखनेवाले भाई का गला काटना नहीं सीखा था, उसने संसार को खून में नहीं डुबाया था, वह अपने भाई के लिये राक्षस नहीं बना था। मानवता के नाम पर वह सारी मानव जाति का वध नहीं करता था। इसीलिये " एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति " ये शब्द आज हमारे सामने अधिक नवीन दिखाई पड़ते हैं और ये शब्द महान्, अर्थयुक्त, स्फूर्तिदायक, संजीवक होने के कारण जिस

युग में लिखे गये थे, उसकी अपेक्षा आज अधिक नवीन हैं। हमें अब तक यह सीखना शेष है कि सभी धर्म का—चाहे उसका कोई भी नाम हो, हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि—ईश्वर एक ही है और इनमें से जो किसी की निन्दा करता है, वह अपने ही ईश्वर की निन्दा करता है।

इस तरह समस्या हल हो गई थी। परन्तु जैसा मैंने कहा; हिन्दुओं के मन को इस प्राचीन एकेश्वरवाद के विचार से सन्तोष नहीं हुआ; उससे वे अधिक दूरी तक नहीं जा सके, उससे दृश्य-जगत् सम्बन्धी शंका का समाधान नहीं हुआ; जगत् का शासनकर्ता ईश्वर मान लेने से जगत् का स्वरूप ठीक ठीक समझ में नहीं आता—कभी नहीं आता। विश्व का विधाता मान लेने से विश्व समझ में नहीं आ सकता और वह विधाता विश्व के बाहर का हो तो और भी कम समझ में आता है। ऐसा विधाता नैतिक पथ-प्रदर्शक हो सकता है। सर्वशक्तिमान भले ही हो सकता है, पर इससे कहीं विश्व सम्बन्धी प्रश्न हल थोड़े ही हो जाता है। विश्व के सम्बन्ध में अब सब से पहला कठिन प्रश्न यही उठता है— "यह विश्व कहाँ से आया? कैसे आया? और किस में स्थित है?" इस प्रश्न को घोषित करने वाले कई सूक्त मिलते हैं।—इस प्रश्न को सुसम्बद्ध रूप देने के लिये कठिन प्रयास हो रहा है—और इसका वर्णन निम्नोक्त सूक्त में जिस प्रकार किया गया है उससे अधिक काव्यमय और अद्भुत वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा—

"उस समय न कोई सत् था, न कोई असत्, न वायु थी, न आकाश, न, अन्य कुछ ही—यह सब किससे ढका था? सब किसके आधार पर था? तब मृत्यु नहीं थी, न अमरत्व ही और न रात्रि और दिन का परिवर्तन ही था।"* अनुवाद करने से कविता का अधिकांश सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। तब न तो मृत्यु थी, न अमरत्व, न रात्रि और दिन का परिवर्तन ही—"न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः" इन संस्कृत शब्दों की ध्वनि ही कैसी संगीतमयी है। "वहसत्ता, वह प्राण ही मानो आवरण के रूप में ईश्वर को ढके हुए था और उसका चलायमान होना प्रारम्भ नहीं हुआ था।" †

इस विचार को स्मरण रखना ठीक होगा कि वह सत्ता अस्तित्व में थी, क्रियारहित थी; क्योंकि आगे चलकर हम देखेंगे कि सृष्टिसर्ग के सम्बन्ध में इस विचार का किस प्रकार विकास हुआ है, और हम यह भी देखेंगे कि हिन्दू तत्वज्ञान और दर्शनशास्त्र के अनुसार यह सम्पूर्ण विश्व किस प्रकार मानो क्रियाशील स्पंदनों की समष्टि है और कई समय ऐसे हुआ करते हैं कि जब यह समस्त क्रिया शान्त हो

* नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन् अंभः किमासीत् गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीत् अमृतं न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
—नासदीय सूक्त

† आनीदवातं स्वधया तदेकं, तस्माद्धन्यन्न परः किञ्चनास।
—नासदीय सूक्त

जाती है और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बन कर कुछ काल तक उसी अवस्था में रह जाती है। इसी अवस्था का वर्णन इस सूक्त में किया गया है। वह सत्ता अक्रिय, अचल, स्पंदनरहित थी और जब सृष्टि का आरम्भ हुआ, तब वह स्पन्दित होने लगी और उसी शान्त, आत्मविधृत, अद्वितीय सत्ता से यह सृष्टि बाहर निकल आई।

"तम आसीत् तमसा गूल्हमग्रे"—प्रथम अंधकार अंधकार में छिपा हुआ था। इस वर्णन की महिमा आप लोगों में से वे ही समझ सकेंगे, जो भारत या किसी अन्य उष्ण देश को गये हैं और वर्षा ऋतु का आरम्भ देखा है। इस दृश्य के वर्णन का प्रयत्न तीन कवियों ने जिस प्रकार किया है, वह मुझे याद आता है। मिल्टन का कथन है—"प्रकाश नहीं था, अंधकार ही दिखाई देता था।" कालिदास कहते हैं—"ऐसा अंधकार जिसका सुई द्वारा भेदन किया जा सकता है।" पर "अंधकार में छिपा हुआ अंधकार" इस वैदिक वर्णन को कोई नहीं पाता। प्रत्येक वस्तु सूख रही है, झुलस रही है। सारा संसार मानो जल रहा है, कई दिनों से ऐसा हो रहा है। किसी दिन, दोपहर के बाद आकाश में एक कोने में छोटा सा बादल का टुकड़ा दिखाई देता है; आध घंटे से भी कम समय में वह बादल मानो सारे संसार भर में फैल जाता है। यहाँ तक कि वह सारे संसार को आच्छादित कर लेता है—बादल पर बादल आते जाते हैं और फिर प्रलयकारी घनघोर वर्षा होने लगती है।

सृष्टि का कारण 'इच्छा' बताई गई है। जो पहिले सत् था अर्थात् जिसका केवल अस्तित्व मात्र ही था, वही 'इच्छा' में परिणत हो गया और वह इच्छा आकांक्षा के रूप में प्रकट होने लगी। यह हमें स्मरण रखना चाहिये; क्योंकि हम देखते हैं कि यह आकांक्षा ही सारी सृष्टि का कारण बतलायी गई है। यह 'इच्छा' ही बौद्ध और वेदान्त-दर्शन में अत्यन्त महत्व की कल्पना है और यही आगे चलकर जर्मन दर्शन-शास्त्र में भी प्रविष्ट हो, शोपनहावर के दर्शन की भित्ति स्वरूप पाई जाती है। सर्व-प्रथम उसके विषय में हम यह सुनते हैं :—

"अब पहले इच्छा की उत्पत्ति हुई, जो मन का अव्यक्त बीज है। ऋषि लोगों ने अपने हृदय में प्रज्ञा द्वारा खोजते खोजते सत् और असत् के बीच के सम्बन्ध का पता लगाया।"* यह बहुत विचित्र वर्णन है। ऋषि तो अन्त में यही कहता है कि "सो अंग वेद यदि वा न वेद"—कदाचित् वह (ईश्वर) भी इसे नहीं जानता। कवित्व की दृष्टि से जो गुण हैं, उन्हें अलग रखते हुये हम इस सूक्त में यह पाते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध का प्रश्न बहुत तीव्र और स्पष्ट रूप धारण कर चुका था और ऋषियों के मन ऐसी अवस्था तक पहुँच चुके थे, जब कि उनका हर तरह के साधारण उत्तरों से समाधान नहीं हो सकता था। हम यह

---

* कामस्तदग्रे समवर्तताधि, मनसो रेत: प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥
—नासदीय सूक्त

देखते हैं कि सृष्टिबाह्य 'जगन्नियन्ता' की कल्पना से भी उन्हें कोई सन्तोष न था। कई अन्य सूक्तों में भी इस सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही विचार पाया जाता है। और जैसा हम पहले देख चुके हैं, जब कि वे विश्व के एक नियन्ता, ईश्वररूपी एक व्यक्ति के शोध करने का प्रयत्न कर रहे थे, एक के बाद दूसरे देवता को लेकर उसे उस पद तक पहुँचाते थे, उसी तरह अब हम यह देखते हैं कि भिन्न भिन्न स्तोत्रों में एक या दूसरी कल्पना उठायी जाती है और उसी का अनंत विस्तार किया जाता है और उसे विश्व की सभी वस्तुओं की उत्पत्ति का कारण बताया जाता है। एक विशेष सत्ता की कल्पना आधार के रूप में की जाती है जिसमें सभी वस्तुओं की गति-स्थिति है और जो स्वयं ही, यह सब वस्तुएँ बन गई है। उसी प्रकार क्रमशः भिन्न भिन्न कल्पनाओं के सम्बन्ध में इसी विधि का प्रयोग किया गया। प्राण रूपी जीवन-तत्व की कल्पना का विस्तार कर उसे विश्वव्यापी और अनंत बना डाला। वही प्राण-तत्व है, जो समस्त विश्व की विधृति का कारण है। वह केवल मानव शरीर को ही धारण नहीं करता, बल्कि वही सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश भी है, वही प्रत्येक वस्तु को चलाने वाली शक्ति है, वही विश्व-संचालिनी शक्ति है। इनमें से कई वर्णन तो बड़े सुंदर, बड़े काव्यमय हैं। उदाहरणार्थ "वही सुंदर प्रभात का उदय करता है"—यह वर्णन काव्यमय रम्य चित्र अंकित करता है।

तत्पश्चात् उसी 'इच्छा' का—जिसके विषय में हमने उसके सृष्टि का अव्यक्त बीज होने के बारे में पढ़ा है—यहाँ तक विस्तार किया जाता है कि वह सर्वव्यापी परमेश्वर का पद प्राप्त कर लेती है; पर इन विचारों में से कोई भी विचार समाधानकारक नहीं प्रतीत हुआ।

यहाँ पर आदि कारण की कल्पना अत्यन्त उदात्त स्वरूप धारण कर लेती है और अन्त में वह 'आदि पुरुष' की कल्पना में परिणत हो जाती है। "सृजन के पूर्व उसी एक का अस्तित्व था, वही सब पदार्थों का एक मात्र अधीश्वर है, वही इस विश्व का आधार है, वही जीव-सृष्टि का जनक है, समस्त शक्ति का मूल है, समस्त देव-देवता उसी की पूजा करते हैं; जीवन जिसकी छाया है, मृत्यु जिसकी छाया है, उसको छोड़ और किसकी पूजा करें? हिमगिरि के तुषार मण्डित उत्तुंग शिखर जिसकी महिमा का उद्‌गान करते हैं, समुद्र अपने अगाध जलसम्भार के द्वारा जिसकी महिमा की घोषणा करते हैं,—"आदि आदि वर्णन पाया जाता है, पर जैसा मैं तुम्हें पहले बता चुका हूँ, इस विचार से उनका समाधान नहीं हो सका।

अन्ततोगत्वा हम एक विचित्र अवस्था में पहुँच जाते हैं। आर्य ऋषियों का मन अभी तक बाह्य प्रकृति में ही इस प्रश्न का उत्तर ढूंढ़ रहा था। सूर्य, चन्द्रमा, तारागण आदि जो जो वस्तुएँ उन्हें दिखाई दीं, उन सब में उन्होंने इसे ढूंढ़ा और इस प्रकार वे जो कुछ पता लगा सके—लगाया। सम्पूर्ण प्रकृति से उन्हें केवल ऐसे

एक व्यक्ति के सम्बन्ध में—जो विश्व का नियन्ता है—शिक्षा मिल सकती थी; वे बाह्य प्रकृति से अधिक और कुछ नहीं सीख सकते थे। संक्षेप में, बाह्य विश्व से तो हमें एक शिल्पी की कल्पना प्राप्त होती है, जिसे 'दैवी योजना के अनुसार निर्माण' (Design theory) का सिद्धान्त कहते हैं।

जैसा कि हम सब जानते हैं, यह सिद्धान्त कुछ विशेष तर्कसंगत नहीं है। इसमें कुछ अबोधता का आभास है, तथापि बाह्य जगत् पर से तो हम परमेश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ा सा जान सकते हैं, वह इतना ही है कि इस जगत् का बनाने वाला कोई होना चाहिये। पर सृष्टिविषयक समस्या इससे हल नहीं होती। इस विश्वरचना की सामग्री या उपादान ईश्वर के पूर्व था तथा सृजन के लिए उस ईश्वर को इस उपादान की आवश्यकता थी। इस कल्पना में सब से अधिक आपत्तिजनक बात तो यह है कि ईश्वर इस उपादान कारण से मर्यादित हो जाता है, क्योंकि इस उपादान की मर्यादा के भीतर ही वह कार्य कर सकता है। कारीगर सामग्रियों के बिना मकान नहीं बना सकता; अतः वह उस सामग्री की मर्यादा से मर्यादित है। जिस वस्तु को बनाने योग्य सामग्री उसके पास है, वही तो वह बना सकता है। अतः 'दैवी योजना के अनुसार निर्माण—' के सिद्धान्त से जो ईश्वर हमें प्राप्त होता है, वह तो अधिक से अधिक एक कारीगर मात्र है, एक समर्याद कारीगर मात्र है। वह तो उपादान-परतंत्र तथा

मर्यादित है; वह स्वतंत्र कैसे हो सकता है! आर्य ऋषि यह सत्य तो पहले ही जान चुके थे और बहुतेरे अन्य लोग वहीं रुक गये होते। अन्य देशों में यही घटना घटी; उतने से ही अनुसन्धान-शील मानव मन का समाधान नहीं हो सकता था, विचारशील सारग्राही मन और आगे बढ़ना चाहता था; पर जो पिछड़े हुये थे, वे उन्हें पकड़ रखते थे और अग्रसर नहीं होने देते थे। परन्तु सौभाग्यवश ये हिन्दू ऋषिगण ऐसे नहीं थे, जिनकी प्रगति कोई रोक सके—वे तो समस्या को हल करना ही चाहते थे और अब हम देखते हैं कि वे बाह्य जगत् को छोड़ अन्तर्जगत् की ओर मुड़ते हैं। सर्वप्रथम तो उनके ध्यान में यह आ गया कि बाह्य जगत् का अनुभव तथा धर्मविषयक कोई भी प्रतीति हमें नेत्र अथवा अन्य इन्द्रियों द्वारा नहीं होती। तब तो पहले यही पता लगाना होगा कि कमी कहाँ है और जैसा कि हम देखेंगे, वह कमी भौतिक और नैतिक दोनों थीं। एक ऋषि कहते हैं कि तुम इस विश्व का कारण क्या है सो नहीं जानते; तुम्हारे और मेरे बीच में बड़ा भारी अन्तर उत्पन्न हो गया है; ऐसा क्यों? कारण यही है कि तुम इन्द्रियविषयक वस्तुओं की चर्चा करते रहे हो और तुम उन्हीं वस्तुओं से और केवल धार्मिक विधियों से संतोष मान लेते हो जब कि मैंने उस द्वन्द्वातीत पुरुष को जान लिया है।

मैं आपके सामने आध्यात्मिक विचारों की प्रगति का दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न कर रहा हूँ, उसके साथ साथ मैं उस

उस प्रगति के एक और अंग की ओर कुछ संकेत कर सकता हूँ; पर उसका हमारे विषय से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। इसलिये मैं उस पर अधिक कहना आवश्यक नहीं समझता। वह है—कर्मकाण्ड की प्रगति। जहाँ आध्यात्मिक विचार एक गुना प्रगत हुए, वहाँ कर्मकाण्ड के विधि-विधान सम्बन्धी विचार दस गुने बढ़ते गये। पुराने अंधविश्वास तो इस समय तक बढ़कर विधि-विधानों का एक बड़ा समूह बन गया था और वह यहाँ तक बढ़ता गया कि उससे हिन्दू जीवन का प्रायः अवरोध ही हो गया। वह अभी भी है तथा हमें अच्छी तरह जकड़े हुए है तथा हमारे जीवन के प्रत्येक अंग में ओतप्रोत होकर उसने हमें जन्म से ही गुलाम बना रखा है। तथापि साथ ही साथ हम इस कर्मकाण्ड की बढ़ती के विरोध का प्रयत्न होते, अत्यन्त प्राचीन काल से ही देखते आरहे हैं। वहाँ इस कर्म-काण्ड के विरोध में एक बड़ी भारी आपत्ति यह उठाई गई है कि विधि-विधान में रुचि, विशिष्ट समय में विशिष्ट वस्त्र का परिधान, विशिष्ट प्रकार से भोजन करने की रीति, आदि आदि धार्मिक स्वांग और आडम्बर धर्म के केवल बाहरी रूप हैं; क्योंकि तुम इन्द्रियों में ही संतोष मान लेते हो और उनके परे जाना नहीं चाहते। हमारे तथा प्रत्येक मनुष्य के लिए, यही तो भारी कठिनाई है। जब हम आध्यात्मिक विषयों की चर्चा सुनते हैं, तब हम अधिक से अधिक क्या करते हैं? इन्द्रियों के वृत्त में ही तो हमारा आदर्श सीमित रहता है। एक व्यक्ति वेदान्त, ईश्वर और विश्वातीत विषयों

के सम्बन्ध में श्रवण करता है और कई दिनों तक सुनने के पश्चात् यही पूछता है कि सब कुछ तो है, पर इससे धन कितना मिलेगा, इन्द्रिय-सुख कितना मिलेगा ?—क्योंकि उसके लिये तो बिलकुल स्वाभाविक बात यही है कि उसका सुख केवल इन्द्रियों में ही रहता है। पर हमारे ऋषियों का तो कहना यही है कि इन्द्रियजन्य सुख में ही तृप्त रहना, अनेक कारणों में से एक ऐसा कारण है, जो सत्य और हमारे बीच में आवरण डालता है। कर्म-काण्ड में रुचि, इन्द्रियों में तृप्ति तथा मत-मतान्तरों तक की ही गति हमारे और सत्य के बीच में पर्दे का काम करती हैं। यह दूसरी सीढ़ी हुई। हमें इस आदर्श का पता अन्त तक लगाना होगा और देखना होगा कि उसका आगे चलकर वेदान्त के अन्तर्गत माया के अद्भुत सिद्धान्त में किस प्रकार विकास हुआ। इसी माया के पर्दे की बात को वेदान्त अध्यात्मविषयक संशय के यथार्थ समाधान के रूप में सामने रखता है। वेदान्त का कहना है कि सत्य तो सदा विद्यमान ही था, पर वह केवल इस माया के आवरण से ढका हुआ था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इन प्राचीन आर्य मनीषियों के मन में यह एक नये विषय का विचार उत्पन्न हुआ। वे यह जान गये कि उनके प्रश्न का यथोचित समाधान बाह्य जगत् में किसी प्रकार खोजने से नहीं मिल सकता। वे चाहे युगों तक बाहरी जगत् में ढूंढ़ते रहें, पर उनके प्रश्नों का उत्तर उससे नहीं मिल सकता। इसी कारण उन्होंने इस दूसरे उपाय का अवलंबन किया और

उसके द्वारा उन्होंने यह सीखा कि विषय-भोग की इच्छाओं, सकाम कर्म की कामनाओं तथा धर्म के बाह्य आडम्बरों ने उनके और सत्य के बीच में आवरण डाल दिया है। और यह पर्दा किसी कर्मानुष्ठान द्वारा हटाया नहीं जा सकता। तब तो उनको अपने ही मन की ओर लौटना पड़ा और अपने में सत्य की खोज करने के लिये अपने मन का ही विश्लेषण करना पड़ा। बाह्य जगत् ने धोखा दिया और वे अन्तर्जगत् की ओर झुके और तभी वेदान्त का सच्चा तत्वज्ञान उत्पन्न हुआ। यहीं से वेदान्त तत्वज्ञान का आरम्भ होता है। वेदान्त दर्शन-शास्त्र की यही नींव है। जैसे जैसे हम आगे बढ़ते हैं वैसे वैसे हम देखते हैं कि उसका सम्पूर्ण अनुसन्धान अन्तर्जगत् में है। बिलकुल प्रारम्भ से ही वे यह घोषित करते से दीखते हैं कि—सत्य को किसी धर्म में मत खोजो, वह तो यहीं—मनुष्य की आत्मा में ही है; यह आत्मा ही आश्चर्यों का आश्चर्य है, उसी आत्मा में समस्त ज्ञान का भाण्डार है और सम्पूर्ण सत्ता की खानि भी वही है,—उसी में खोजो। जो यहाँ नहीं है, वह वहाँ (बाह्य जगत् में) हो ही नहीं सकता। एक के बाद एक क्रमशः उन्होंने यही ढूंढ़ निकाला कि जो कुछ बाहर है, वह भीतरी वस्तु का, अधिक से अधिक कहा जाय तो, केवल अस्पष्ट प्रतिबिंब मात्र है। हम यह देखेंगे कि किस प्रकार ईश्वर सम्बन्धी उस पुरानी कल्पना को, विश्व के नियामक को, विश्व के बाहर रहने वाले को मानो पकड़कर वे उसे पहिले विश्व के भीतर ले आये। वह ईश्वर बाहर नहीं है,

भीतर ही है; और वहाँ से वे उसे अपने हृदय में ले गये। यहाँ मनुष्य के हृदय में वह आत्माओं की आत्मा, हमारी सत्ता के रूप में विराजमान है।

वेदान्त दर्शनशास्त्र के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कई महत्वपूर्ण विचारों को समझना आवश्यक है। प्रथम तो यह कि वह उस अर्थ में दर्शनशास्त्र नहीं है, जिस अर्थ में हम "कैंट" और "हेगल" के दर्शनशास्त्र की चर्चा करते हैं। वह न तो एक ग्रंथ है और न किसी एक व्यक्ति का बनाया हीं। विभिन्न कालों में लिखित ग्रंथों की एक श्रेणी का नाम वेदान्त है। कभी कभी तो इनमें से एक में ही पचासों भिन्न भिन्न विषय दिखाई देंगे। वे क्रमबद्ध रूप में संकलित भी नहीं हैं; मानो विचारों की टिप्पणियाँ बना ली गई हों। कहीं कहीं तो बहुत से अन्य विषयों के मध्य में हम कोई अद्भुत विचार पा जाते हैं। पर एक बात उल्लेखनीय है कि उपनिषदों के ये विचार सदा प्रगतिशील पाये जाते हैं। उस पुरानी अनगढ़ भाषा में, प्रत्येक ऋषि के मन की विचार-क्रियाएँ जैसी-जैसी होती गईं, उसी क्रम से उसी समय मानो चित्रित कर दी गई हों। पहले तो ये विचार बहुत ही अनगढ़ रहते हैं। और तत्पश्चात् क्रमशः सूक्ष्म और सूक्ष्मतर होते हुये अन्त में वेदान्त के लक्ष्य को पहुँच जाते हैं और इसी परिणति को दार्शनिक स्वरूप प्राप्त हो जाता है। यह ठीक उसी तरह होता है, जैसा कि हमने देखा है कि प्रथम द्युतिमान देवताओं का पता लगाया जा रहा

था, फिर विश्व के आदि कारण की खोज की गयी और फिर उसी को 'विभिन्नता में एक' की शोध का तात्विक तथा स्पष्ट स्वरूप प्राप्त हो गया—'जिसके ज्ञान से अन्य सब वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं।' *

* कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ।

—मुण्डकोपनिषद्

---

३. हिन्दू धर्म और उसका सामान्य आधार *

यह वही भूमि है जो पवित्र आर्यावर्त में भी पवित्रतम मानी जाती है; यह वही ब्रह्मावर्त है जिसका हमारे महर्षि मनु ने उल्लेख किया है। यह वही भूमि है जहाँ से अध्यात्म-प्राप्ति की प्रबल आकांक्षा तथा प्रबल अनुराग-स्रोत का उद्गम हुआ है। उसी स्रोत ने आगे चलकर संसार को प्लावित कर दिया और इतिहास इस बात का साक्षी है। यह वही भूमि है जहाँ चारों ओर विभिन्न आधारों में—यहाँ की प्रचण्ड वेगवान महानदियों के समान—प्रबल धर्मानुराग, विभिन्न रूप से उत्पन्न होकर धीरे धीरे एक आधार में सम्मिलित, एवं शक्तिसम्पन्न हो अन्त में संसार की चारों दिशाओं में व्याप्त हो गया तथा विद्युद्गर्जन के सदृश गम्भीर ध्वनि से अपनी महान् शक्ति की समस्त जगत् में घोषणा कर दी। यह वही वीर भूमि है, जिसे भारत पर चढ़ाई करने वाले शत्रुओं का आघात सबसे पहले सहना पड़ा था। आर्यावर्त में घुसनेवाली बाहरी बर्बर जातियों के प्रत्येक हमले का सामना इसी वीर भूमि को अपनी छाती खोलकर करना पड़ा था। यह वही भूमि है, जिसने अपनी सभी आपत्तियों को झेलते हुए अभी तक अपना गौरव और तेजस्विता की कीर्ति को पूर्णतः नष्ट नहीं होने दिया। यही भूमि है, जहाँ आगे चलकर दयालु नानक ने अवतीर्ण होकर अद्भुत विश्व प्रेम का

---

* सन् १८९७ में लाहोर में दिया हुआ व्याख्यान।

उपदेश दिया और यह वही भूमि है, जहाँ उन्होंने अपना विशाल हृदय खोलकर–केवल हिन्दुओं को ही नहीं वरन् मुसलमानों को भी, यहाँ तक कि समस्त संसार को गले लगाने के लिये अपने हाथ फैलाये। यहीं पर हमारी जाति के महान् तेजस्वी अन्तिम गुरु, गुरु गोविंद सिंह ने अपना और अपने कुटुम्बियों तक का खून धर्म की रक्षा के लिये बहा दिया, और जिनके लिये यह खून की नदी बहाई उन लोगों ने भी जब उनका साथ छोड़ दिया, तब वे मर्माहत सिंह के समान, चुपचाप दक्षिण देश में निर्जनवास के लिये चले गये, और अपने देशभाइयों के प्रति एक भी अभिशाप-वचन उच्चारित न कर, तनिक भी असन्तोष प्रकट न कर शान्त भाव से इहलोक छोड़कर चले गए।

हे पञ्चनद देशवासी भाइयो! यहाँ, अपनी इस प्राचीन पवित्र भूमि में, आप लोगों के सामने मैं आचार्य के रूप में नहीं खड़ा हुआ हूँ; क्योंकि तुम्हें शिक्षा देने योग्य ज्ञान मेरे पास बहुत ही थोड़ा है। बल्कि मैं तो पूर्वी प्रान्त से अपने पश्चिमी भाइयों के पास इसीलिये आया हूँ कि उनके साथ मित्र की तरह वार्तालाप करके अपने अनुभव उन्हें बताऊँ और उनके अनुभव से स्वयं लाभ उठाऊँ। मैं यहाँ यह देखने नहीं आया कि हमारे और आपके बीच क्या क्या मतभेद हैं, वरन् मैं यह खोजने आया हूँ कि आपकी और हमारी मिलनभूमि कौन सी है। मैं यहाँ आया हूँ यह जानने के लिए कि वह कौनसा आधार है जिसके ऊपर हम-

आप सदा के लिए भाई का नाता बनाये रख सकते हैं, किस भित्ति पर प्रतिष्ठित होने से वह वाणी, जो अनन्त काल से हमें आशा का संदेश सुनाती आ रही है, उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होती रहेगी। मैं यहाँ आया हूँ, आपके सामने कुछ विनाशक कार्यक्रम नहीं, वरन् कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने के लिए।

समालोचना के दिन अब चले गये और आज तो हम रचनात्मक कार्य करने के लिये उत्सुक हैं। संसार को समय समय पर समालोचना—कठोर समालोचना की भी ज़रूरत हुआ करती है। पर यह केवल अल्प काल के लिये ही। हमेशा के लिये तो उन्नतिकारी और रचनात्मक कार्य ही उचित होते हैं, निन्दा करना या नष्ट-भ्रष्ट करना नहीं। लगभग पिछले सौ वर्ष से हमारे इस देश में सर्वत्र समालोचना की बाढ़ सी आ गई है, देश के सभी अंधकारावृत्त प्रदेशों पर पाश्चात्य विज्ञान का तीव्र प्रकाश डाला गया है, जिससे कि अन्य स्थानों की अपेक्षा कोने-काने और छिद्र ही अधिक स्पष्ट दिखाई देने लगे हैं। ऐसी अवस्था में यह बिलकुल स्वाभाविक था कि सारे देश भर में ऐसे कई प्रकाण्ड विद्वान् पैदा हुए, जो अपने हृदय में सत्य और न्याय के प्रति अनुराग होने के कारण महान् और तेजस्वी थे। उनके अन्तःकरण में अपने देश के लिये, और सबसे बढ़कर ईश्वर तथा अपने धर्म के लिये अगाध प्रेम था। और चूँकि अत्यधिक स्वदेश-प्रीति के कारण इन महापुरुषों के प्राण कातर हो उठते थे इसलिए वे जिस बात को ग़लत समझते थे,

उसकी तीव्र आलोचना कर देते थे। अतीत कालीन इन महा-पुरुषों की जय हो—उन्होंने देश का बहुत ही कल्याण किया है, पर आज हमें एक महावाणी सुनाई दे रही है, "बस करो, बस करो, निन्दा पर्याप्त हो चुकी, दोष-दर्शन बहुत हो चुका, अब तो समय पुनर्निमाण का, फिर से संगठन करने का, आ गया है। अब समय आ गया है अपनी समस्त बिखरी हुई शक्तियों को एकत्र करने का, उन सबको एक ही केन्द्र में केन्द्रित करने का और उस सम्मिलित शक्ति द्वारा देश को प्रायः सदियों से रुकी हुई उन्नति के मार्ग में अग्रसर करने का। घर की सफाई हो चुकी है। अब आवश्य-कता है उसे नये सिरे से आबाद करने की। रास्ता साफ कर दिया गया है। आर्य सन्तानों! अब आगे बढ़ो।"

सज्जनो! इसी उद्देश से प्रेरित होकर मैं आपके सामने आया हूँ और आरम्भ में ही प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मैं किसी दल या विशिष्ट सम्प्रदाय का नहीं हूँ। सभी दल और सभी सम्प्रदाय मेरे लिये महान् और महिमामय हैं। मैं उन सबसे प्रेम करता हूँ और अपने जीवन भर मैं यही ढूंढ़ने का प्रयत्न करता रहा कि उनमें, कौन कौन सी बातें अच्छी और सच्ची हैं। इसीलिये आज मैंने संकल्प किया है कि आप लोगों के सामने उन बातों को पेश करूँ, जिनमें हम एकमत हैं, जिससे कि हमें एकता की सम्मिलन-भूमि प्राप्त हो जाय और यदि ईश्वर की दया से यह सम्भव हो तो हम उसके सहारे शीघ्र ही उस आदर्श को कार्यरूप में परिणत

कर दें। हम लोग हिन्दू हैं। मैं हिन्दू शब्द का किसी बुरे अर्थ में प्रयोग नहीं कर रहा हूँ; और मैं उन लोगों से कदापि सहमत नहीं, जो उससे कोई बुरा अर्थ समझते हों। प्राचीन काल में उस शब्द का अर्थ था, सिन्धु नद के दूसरी ओर बसनेवाले लोग। हमसे घृणा करनेवाले बहुतेरे लोग, आज उस शब्द का कुत्सित अर्थ भले ही लगाते हों, पर केवल नाम में ही क्या धरा है ? यह तो हमारे ऊपर ही पूर्णतया निर्भर है कि हिन्दू नाम अखिल महिमामय तथा आध्यात्मिक विषयों का द्योतक रहे या कि उस शब्द का चिरकाल तक घृणासूचक प्रयोग हो तथा उस शब्द से पददलित, निकम्मी और धर्मभ्रष्ट जाति का ही बोध हो। यदि आज हिन्दू शब्द का कोई बुरा अर्थ है, तो उसकी परवाह मत करो। आओ अपने कार्यों और आचरणों द्वारा यह दिखाने को तैयार हो जाओ, कि समग्र संसार की कोई भी भाषा इससे ऊँचा, इससे महान शब्द का आविष्कार ही नहीं कर सकी है। मेरे जीवन की यह नीति रही है कि मैं अपने पूर्वजों की सन्तान कहलाने में लज्जित नहीं होता। मुझ जैसा गर्वी मानव इस संसार में शायद ही हो, पर मैं यह स्पष्ट रूप से बता देता हूँ कि वह गर्व मुझे अपने स्वयं के गुण या शक्ति के कारण नहीं, वरन् अपने पूर्वजों के गौरव के कारण है। जितना ही अधिक मैंने प्राचीन विषयों का अध्ययन किया है, जितना ही मैंने भूतकाल की ओर निरीक्षण किया है. उतना ही यह गर्व मुझमें अधिक आता गया तथा मुझे उससे श्रद्धा की दृढ़ता और

साहस प्राप्त हुआ है और उसीसे मैं पृथ्वी की धूलि से उठकर अपने उन महान् पूर्वजों के निश्चित किये हुये कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने को प्रेरित हुआ हूँ। ऐ उन्हीं प्राचीन आर्य की सन्तानों! ईश्वर करें आप लोगों के हृदय में भी वही गर्व आविर्भूत हो जाय, अपने पूर्वजों के प्रति वही विश्वास आप लोगों के खून में दौड़े, वह आप लोगों के जीवन का पूरा पूरा अंग बन जाय और उससे आप संसार के उद्धार के लिये कार्य करने लग जायँ।

भाइयो! ठीक ठीक किस बात में हम एकमत हैं तथा हमारे जातीय जीवन का सामान्य आधार क्या है, यह पता लगाने के पहले हमें एक बात स्मरण रखना चाहिये—जैसे प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व होता है, ठीक उसी तरह प्रत्येक जाति का भी एक एक व्यक्तित्व होता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति कुछ विशिष्ट बातों में, अपने विशिष्ट लक्षणों में अन्य व्यक्तियों से पृथक् होता है, उसी प्रकार एक जाति भी विशिष्ट लक्षणों में, दूसरी जाति से भिन्न हुआ करती है। और जिस प्रकार प्रकृति द्वारा नियमित कार्य में किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति करना हरएक मनुष्य का जीवन-कार्य होता है, जिस प्रकार अपने पूर्वकर्म द्वारा निर्धारित विशिष्ट मार्ग से उस मनुष्य को चलना पड़ता है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था जातियों की भी है। प्रत्येक जाति को किसी न किसी दैवनिर्दिष्ट मार्ग से जाना पड़ता है, उसे संसार में एक सन्देश देना पड़ता है तथा कुछ न कुछ व्रतविशेष का उद्यापन करना होता है। अतः आरम्भ से ही

हमें यह समझ लेना चाहिये कि हमारी जाति का व्रत क्या है, विधाता ने उसे किस कार्य के लिए नियुक्त किया है, विभिन्न जातियों की पृथक् पृथक् उन्नति तथा अधिकार में हमें कौन सा स्थान ग्रहण करना है, विभिन्न जातियों के ऐक्य रूपी संगीत के लिये हमें कौन सा स्वर अलापना है। हम अपने देश में बचपन में यह किस्सा सुना करते हैं कि कुछ सर्पों के फन में मणि होती है और आप सर्प का चाहे जो कर डालें, पर जब तक मणि वहाँ है, तब तक सर्प कभी नहीं मर सकता। हम लोगों ने किस्से-कहानियों में राक्षसों और शैतानों कि भी बहुतेरी बातें सुनी हैं। कहते हैं कि उनके प्राण 'हीरामन तोते' के कलेजे के अन्दर बन्द रहते हैं और जब तक उस 'हीरामन तोते' की जान में जान रहेगी तब तक उस राक्षस या शैतान का बाल भी बाँका नहीं होगा—चाहे तुम उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालो, जो चाहे सो करो पर तोते के जीते जी उन्हें कोई मार नहीं सकता। यही बात एक जाति के सम्बन्ध में भी सत्य है। जातिविशेष का जीवन भी ठीक उसी प्रकार मानो किसी चीज़ में छिपा हुआ रहता है। वहीं उस जाति की जातीयता रहती है और जब तक उस गुप्त स्थान पर चोट नहीं पड़ती, तब तक वह जाति मर नहीं सकती। इसी तत्व के प्रकाश से, हम संसार के इतिहास की एक सर्वाधिक आश्चर्यपूर्ण अनोखी घटना को भलीभाँति देख और जान सकते हैं। हमारी इस श्रद्धासम्पन्न जन्म-भूमि पर विजेताओं के कई बर्बर आक्रमण, एक के बाद दूसरी समुद्री

तरंग के समान हुये। "अल्लाहो अकबर!" की गगन-भेदी ध्वनि सदियों तक भारत-गगन में गूँजती रही और शायद ऐसा कोई हिन्दू नहीं होगा जिसे पल पल पर मृत्यु की आशंका न होती रही हो! संसार के इतिहास में इस देश से अधिक दुःख पानेवाला तथा अधिक पराधीनता भोगने वाला और कौन देश है? पर हम फिर भी प्रायः वैसी ही जाति बने हुये हैं और आवश्यकता पड़ने पर फिर भी बारंबार विपत्तियों का सामना करने को तैयार हैं; और इतना ही नहीं, हाल में ऐसे भी चिह्न दिखाई दिये हैं कि हम केवल शक्तिमान ही नहीं, वरन् इसके अतिरिक्त बाहर जाकर दूसरों को अपना भाव देने के लिये भी उद्यत हैं, क्योंकि विस्तार ही जीवित रहने का चिह्न है।

हमें आज पता चलता है कि हमारे भाव और चिन्तन भारत की सरहदों के अंदर ही घिरे हुये नहीं हैं, वरन् हमारी इच्छा के होते अथवा न होते हुए भी वे बाहर बढ़ रहे हैं, अन्य देशों के साहित्य में प्रविष्ट हो रहे हैं, उन देशों में अपना स्थान प्राप्त कर रहे हैं और इतना ही नहीं, वरन् कहीं कहीं तो वे आदेश-दाता गुरु के आसन तक पहुँच गये हैं। इसका कारण यही है कि संसार की सम्पूर्ण उन्नति-समष्टि में भारत का विशेष हाथ रहा है; क्योंकि उसने—मानव जाति का मन जिन सब विषयों को लेकर उलझा रहता है उनमें से सर्व श्रेष्ठ तथा महत्तम विषय—दर्शनशास्त्र तथा आध्यात्मिकता का उसमें संयोग दिया है। हमारे पूर्वजों ने

बहुतेरे अन्य प्रयोग किये और जैसा कि सर्वविदित है, अन्य सब जातियों के समान, वे भी पहले बहिर्जगत् के रहस्य के अन्वेषण में लग गये। अपनी विशाल प्रतिभा से वह महान् जाति, प्रयत्न करने पर, उस दिशा में ऐसे अद्भुत आविष्कार कर दिखाती, जैसे कि समस्त संसार ने अभी तक स्वप्न में भी नहीं देखे हैं; पर इस पथ को उन्होंने, किसी उच्चतर ध्येय की प्राप्ति के लिये छोड़ दिया। वेद के पृष्ठों से उसी महान् ध्येय की प्रतिध्वनि सुनाई देती है— "सा परा यया तदक्षरमधिगम्यते।" वही परा विद्या है जिससे हमें वह अविनाशी परम पुरुष प्राप्त होता है। इसी परिवर्तनशील, नश्वर प्रकृति सम्बन्धी विद्या, इसी मृत्यु, दुःख तथा शोकपूर्ण जगत् का विज्ञान एक बहुत बड़ा शास्त्र भले ही हो; परन्तु जो अपरिणामी एवं आनन्दमय है, जो चिर शान्ति का आकर है, जो अनन्त जीवन तथा पूर्णत्व का एक मात्र आश्रय-स्थान है, एक मात्र जहाँ ही सब दुःखों का उपशम हो जाता है, उसी ईश्वर से सम्बन्ध रखने वाली विद्या हमारे पूर्वजों की राय में सबसे अधिक महत्व की थी। हमारे पूर्व पुरुष यदि चाहते, तो ऐसे विज्ञानों का अन्वेषण सहज ही कर सकते थे, जो हमें केवल अन्न, वस्त्र और अपने साथियों पर आधिपत्य दे सकते हैं, जो हमें केवल दूसरों पर विजय प्राप्त करना, उन पर राज्य करना एवं शक्तिमान पुरुषों को निर्बलों पर अधिकार चलाना सिखाते हैं। पर उस परमेश्वर की अपार दया से हमारे पूर्वजों का ध्यान उससे विपरीत दिशा की विद्या की ओर आकृष्ट

हुआ, जो अधिक विशाल, तथा कई गुनी श्रेष्ठ और परमानंदपूर्ण थी। इसी मार्ग से एकनिष्ठ भाव से वे अग्रसर हुए, यहाँ तक कि आज यही हमारा जातीय विशेषत्व बन गया है; यहाँ तक कि हज़ारों वर्ष से यही, लगातार, पिता से पुत्र को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त होता हुआ अब हमारे जातीय जीवन का एक अंग हो गया है; यहाँ तक कि हमारी नसों में दौड़ने वाले रक्त के प्रत्येक बिन्दु में वह मिद गया है और वही मानो हमारा स्वभाव बन गया है, कहाँ तक कहें, 'धर्म' और 'हिन्दू' दोनों नाम का अर्थ ही एक हो गया है। यही हमारी जाति का वैशिष्ट्य है और इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जंगली असभ्य जातियों ने यहाँ आकर तलवार और अग्नि का प्रयोग किया, अपने जंगली असभ्य धर्मों का भी प्रचार किया, पर इनमें से एक भी हमारे हृदय को स्पर्श तक नहीं कर सका; उस सर्प की फन की उस 'मणि' को छू नहीं सका, उस जातीय जीवन के 'हीरामन तोते' को मार नहीं सका। अतएव यही हमारी जाति की जीवनी शक्ति है और जब तक यह अव्याहत है, तब तक संसार में किसी की ताकत नहीं कि वह इस जाति का विनाश कर सके। जब तक हम अपने इस अत्यन्त अमूल्य पैतृकधन आध्यात्मिकता को नहीं छोड़ेंगे, तब तक संसार के सभी अत्याचार-उत्पीड़न और दुःख हमें बिना चोट पहुँचाये ही, दूर हो जाएंगे और हम लोग प्रह्लाद के समान, अग्नि की ज्वालाओं में से भी, बिना जले बाहर निकल आएंगे। अगर

भद्रमहोदयगण, मेरा विश्वास हैं कि कई ऐसी प्रधान प्रधान बातें हैं, जिन पर हम सब सहमत हैं, जिन्हें हम सभी मानते हैं। हम चाहे वैष्णव हों या शैव, शाक्त हों या गाणपत्य—चाहे प्राचीन वैदान्तिक सिद्धान्तों को मानते हों या अर्वाचीनों के ही अनुयायी हों, पुरानी लकीर के फकीर हों अथवा नवीन सुधार-संस्कारवादी हों— कुछ भी क्यों न हों, पर वे सभी, जो अपने को हिन्दू कहते हैं, कुछ तत्वों पर समान रूप से विश्वास करते हैं।

सम्भव है कि उन तत्वों की व्याख्याओं में भेद है—और होना भी चाहिये; क्योंकि हम लोग सबको एक साँचे में नहीं ढाल सकते। इस तरह की चेष्टा ही पाप है कि हम जिस तरह की व्याख्या करें, सबको वही व्याख्या माननी पड़ेगी अथवा हमारी ही प्रणाली का अनुसरण करना होगा—जबर्दस्ती ऐसी चेष्टा करना पाप है। भाइयो,आज यहाँ पर जो लोग एकत्र हुए हैं, शायद वे सभी एक स्वर से यह स्वीकार करेंगे कि हम लोग वेदों को अपने धर्म-रहस्यों का सनातन उपदेश मानते हैं। हम सभी यह विश्वास करते हैं कि वेदों का पवित्र शब्द-समूह अनादि और अनन्त है। जिस प्रकार प्रकृति का न आदि है न अन्त, उसी प्रकार इसका भी आदि-अन्त नहीं है। और, जब कभी हम इस पवित्र ग्रन्थ को स्पर्श करते हैं, तो उसी समय हमारे धर्म-सम्बन्धी सारे भेद-भाव और झगड़े मिट जाते हैं। हमारे धर्म-विषयक जितने भी भेद हैं, उनकी अन्तिम मीमांसा करने वाला यही वेद है। वेद क्या है, इस पर हम लोगों में मतभेद हो

सकता है। कोई सम्प्रदाय वेद के किसी एक अंश को दूसरे अंश से अधिक पवित्र समझ सकता है। पर इससे कुछ आता-जाता नहीं; क्योंकि वेद पर हम सबका यह विश्वास है कि इसी एक सनातन, पवित्र तथा अपूर्व ग्रन्थ से हमें वे सारी चीज़ें मिलती हैं जो विशुद्ध हैं, महान् हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। अच्छा, यदि हमारा ऐसा विश्वास है, तो फिर इसी तत्व का सारे भारतवर्ष में प्रचार हो। वेद सदा से जिस प्रधानता का अधिकारी है, और उसकी जिस प्रधानता को हम भी मानते हैं, उसे वह प्रधानता दी जाय। अर्थात् हम सबका सर्व-प्रथम मिलन-स्थान है 'वेद'।

दूसरी बात यह है कि हम सभी ईश्वर में अर्थात् संसार की सृष्टि-स्थिति-लय-कारिणी शक्ति में—जिसमें यह सारा चराचर लय होकर फिर समय आने पर जगत्-प्रपञ्च रूप से निकल आता है—विश्वास करते हैं। हमारी ईश्वर-विषयक कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार की हो सकती है—कुछ लोग ईश्वर को सम्पूर्ण सगुण रूप में, कुछ उन्हें सगुण तथापि अमानवभावापन्न रूप में, और कुछ सम्पूर्ण निर्गुण रूप में ही मान सकते हैं, और सभी अपनी अपनी धारणा की पुष्टि में वेद का प्रमाण दे सकते हैं। पर इन सब विभिन्नताओं के होते हुए भी हम सभी ईश्वर में विश्वास करते हैं। इसी बात को दूसरे शब्दों में ऐसा भी कह सकते हैं—जिनसे सकल चराचर उत्पन्न हुआ है, जिनके अवलम्ब से वह जीवित है, और अन्त में वह फिर जिनमें लीन हो जाता है, उस अद्भुत अनन्त

शक्ति पर जो विश्वास नहीं करता, वह अपने को हिन्दू नहीं कह सकता। यदि ऐसी बात है, तो इस तत्व को भी समग्र भारतवर्ष में फैलाने की चेष्टा करनी होगी। तुम इस ईश्वर का चाहे जिस भाव से प्रचार करो, तुममें हममें कोई वास्तविक अन्तर नहीं है—हम इसके लिये तुम्हारे साथ झगड़ा नहीं करेंगे; पर तुम्हें, चाहे जैसे हो, इस ईश्वर का ही प्रचार करना होगा—बस, हम इतना ही चाहते हैं। ईश्वर-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं में, सम्भव है, कोई धारणा अधिक श्रेष्ठ हो; पर याद रखना, उनमें कोई भी धारणा बुरी नहीं है। उन धारणाओं में कोई उत्कृष्ट, कोई उत्कृष्टतर और कोई उत्कृष्टतम हो सकती है; पर हमारी धार्मिक तत्व-सम्बन्धी-शब्दावली में 'बुरा' नाम का कोई शब्द ही नहीं है। अतएव, ईश्वर के नाम का चाहे जो कोई जिस भाव से प्रचार करे, वह निश्चय ही ईश्वर के आशीर्वाद का भाजन होगा। उनके नाम का जितना ही अधिक प्रचार होगा, देश का उतना ही कल्याण भी होगा। हमारे बच्चे बचपन से ही इस भाव को हृदय में धारण करना सीखें—अत्यन्त दरिद्र और नीचातिनीच मनुष्य के घर से लेकर बड़े-से-बड़े धनी-मानी और उच्चतम मनुष्य के घर में भी ईश्वर के शुभ नाम का प्रवेश हो।

प्यारे भाइयो! अब एक तीसरा तत्व मैं आप लोगों के सामने प्रकट करना चाहता हूँ। हम लोग औरों की तरह यह विश्वास नहीं करते कि केवल कई हजार वर्ष पहले इस जगत् की सृष्टि हुई है और एक दिन इसका एकदम ध्वंस हो जायगा। साथ ही, हम यह

भी विश्वास नहीं करते कि इसी जगत् के साथ शून्य से जीवात्मा की भी सृष्टि हुई है। मेरा ख्याल है कि इस विषय में भी सब हिन्दू एकमत होंगे। हमारा विश्वास है कि प्रकृति अनादि और अनन्त है—हाँ, कल्पान्त में यह स्थूल बाह्य जगत् सूक्ष्मता को प्राप्त होता है। फिर कुछ काल तक उस सूक्ष्मावस्था में रहकर पुनः बाहर आता और प्रकृति नामक इस अनन्त जगत्-प्रपञ्च को प्रकट करता है। और यह तरङ्गाकार गति अनन्त काल से—जब स्वयं काल का ही आरम्भ नहीं हुआ था तभी से—चल रही है, और अनन्त काल तक चलती रहेगी।

एक बात और है। हिन्दू-मात्र का विश्वास है कि यह स्थूल जड़ शरीर, अथवा इसके भीतर रहनेवाला मन नामक सूक्ष्म शरीर भी वास्तव में मनुष्य नहीं—'मनुष्य' इन सब से भी बहुत ऊँचा और श्रेष्ठ है। कारण, स्थूल शरीर परिणामी है, और मन का भी वही हाल है; परन्तु इन सबसे परे आत्मा नामक जो अनिर्वचनीय वस्तु है, उसका न आदि है न अन्त। मैं इस 'आत्मा' शब्द का अँगरेजी में अनुवाद नहीं कर सकता। इसके लिये अँगरेजी में, आप चाहे जो शब्द कहें, ग़लत होगा। हाँ, तो आत्मा 'मृत्यु' नामक अवस्था से परिचित नहीं। इसके सिवाय एक और खास बात है, जिसमें हमारे साथ और और जातियों का मतभेद है। वह यह है कि आत्मा एक देह का अन्त होने पर दूसरी देह धारण करती है। ऐसा करते करते वह एक ऐसी अवस्था में पहुँचती है, जब उसे

फिर शरीर धारण करने की कोई भी आवश्यकता नहीं रह जाती, या उसे वैसा करने की इच्छा ही नहीं होती। तब वह मुक्त हो जाती है; फिर कभी जन्म नहीं लेती। हमारा मतलब अपने शास्त्रों के पुनर्जन्म-वाद और आत्मा के नित्यत्व-वाद से है। हम चाहे जिस सम्प्रदाय के हों, पर इस विषय में हम सभी एकमत हैं। इस आत्मा-परमात्मा के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में हमारे भिन्न-भिन्न मत हों तो हों। एक सम्प्रदाय आत्मा को परमात्मा से सदा अलग मान सकता है, दूसरे के मत से आत्मा उसी अनन्त अग्नि की एक चिनगारी हो सकती है, और किसी तीसरे सम्प्रदाय के मतानुसार आत्मा और परमात्मा में कोई भेद ही न हो—ऐसा भी हो सकता है। हम आत्मा व परमात्मा के इस सम्बन्ध के विषय में चाहे जैसा अर्थ क्यों न निकालें, चाहे जैसी व्याख्या क्यों न करें, इससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। जब तक हम इस मूलतत्व को मानते हैं कि आत्मा अनन्त है, उसकी कभी सृष्टि नहीं हुई, और इसलिए उसका कभी नाश भी नहीं हो सकता, उसे भिन्न-भिन्न शरीरों से क्रमशः उन्नति करते-करते अन्त में मनुष्य-शरीर धारणकर पूर्णत्व प्राप्त करना होगा—तब तक हम सभी एकमत हैं।

अब मैं प्राच्य और पाश्चात्य भावों में सर्वाधिक भेद-जनक, और धर्मराज्य के सबसे बड़े तथा अपूर्व आविष्कार की बात बताऊँगा। आप लोगों में कुछ लोग शायद ऐसे होंगे, जो पाश्चात्य विचारों का अध्ययन करते हों। उन्हें सम्भवतः यह बात पहले ही सूझी होगी

कि एक और ऐसी मुख्य बात है जो पाश्चात्य विचारों को एक ही चोट में पूर्वीय विचारों से पृथक् कर देती है। वह यह है कि हम भारत के निवासी जितने भी प्रकार के धर्मावलम्बी हैं—शाक्त, शैव, सौर या वैष्णव; यहाँ तक कि बौद्ध और जैन भी—सब-के-सब यही विश्वास करते हैं कि आत्मा स्वभावतः शुद्ध, पूर्ण, अनन्तशक्तिसम्पन्न और आनन्दमय है। केवल द्वैतवादियों के मत से आत्मा का वह स्वाभाविक आनन्द स्वभाव पिछले बुरे कर्मों के कारण संकुचित हो गया है। ईश्वर के अनुग्रह से वह फिर खिल जाएगा और आत्मा पुनः अपने पूर्ण स्वभाव को प्राप्त होजायगी। पर अद्वैतवादी कहता है कि आत्मा के संकुचित होने की धारणा भी अनेक अंशों में भ्रान्ति-मूलक है—माया के आवरण के कारण ही हम समझते हैं कि आत्मा ने अपनी समस्त शक्ति खोई है, परन्तु असल में आत्मा की समस्त शक्ति तब भी पूर्ण रूप से प्रकाशमान रहती है। द्वैत और अद्वैतवाद में यह अन्तर रहने पर भी मूलतत्व में—अर्थात् आत्मा के स्वाभाविक पूर्णत्व के विषय में—सब का विश्वास एक है, और यहीं पर पाश्चात्य और प्राच्य के बीच की मजबूत दीवार खड़ी होती है। प्राच्य जाति उन वस्तुओं को, जो अच्छी और महान् हैं,अपने अन्दर ढूंढ़ती है। पूजा-उपासना के समय हम लोग आँखें बन्दकर ईश्वर को अपने अन्दर ढूंढ़ते हैं, और पाश्चात्य जाति अपने बाहर ही ईश्वर को ढूंढ़ती फिरती है। पाश्चात्यों के धर्मग्रंथ श्वास की तरह बाहर से भीतर आये हुए (Inspired) हैं। पर हमारे धर्मग्रंथ भीतर से बाहर निकले हुए

(Expired) हैं–ईश्वर-निःश्वसित हैं, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के हृदयों से निकले हैं।

यह एक बहुत आवश्यक और अच्छी तरह समझ रखने की बात है। प्यारे भाइयो! मैं आप लोगों से यह बताये देता हूँ कि यही बात भविष्य में हमें फिर बार बार बतलानी और समझानी पड़ेगी। कारण, मेरा दृढ़ विश्वास है, और मैं आप लोगों से भी यह बात अच्छी तरह समझ लेने को कहता हूँ कि जो व्यक्ति दिन-रात अपने को दीन, हीन या अयोग्य समझे हुए बैठा रहेगा, उसके द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता; वास्तव में दिन-दिन वह अपनी उसी कल्पित अवस्था को प्राप्त होता जायगा। अगर आप समझें कि हमारे अन्दर शक्ति है, तो आप ही में से शक्ति जाग उठेगी। और, अगर आप सोचें कि हम कुछ नहीं हैं–दिन-रात यही सोचा करें, तो आप सचमुच ही 'कुछ नहीं' हो जायँगे। आप लोगों को तो यह महान् तत्व सदा स्मरण रखना चाहिये कि हम उसी सर्वशक्तिमान परमपिता की सन्तान हैं, हम उसी ब्रह्माग्नि की चिनगारियाँ हैं–भला हम 'कुछ नहीं' क्योंकर हो सकते हैं? हम सब कुछ कर सकते हैं, हमें सब कुछ करना ही होगा–हमारे पूर्व-पुरुषों में ऐसा ही दृढ़ आत्म-विश्वास था। इसी आत्म-विश्वास-रूपी प्रेरणा-शक्ति ने उन्हें सभ्यता की ऊँची-से-ऊँची सीढ़ी पर चढ़ाया था। और अब यदि हमारी अवनति हुई हो, तो आपसे सच कहता हूँ, जिस दिन हमारे पूर्वजों ने अपना यह आत्म-विश्वास गँवाया होगा, उसी दिन से

हमारी यह अवनति, यह दुरवस्था आरम्भ हुई है। आत्म-विश्वास-हीनता का मतलब ही है ईश्वर में अविश्वास। क्या तुम्हें विश्वास है कि वही अनन्तमङ्गलमय विधाता तुम्हारे भीतर बैठकर काम कर रहा है? यदि तुम ऐसा विश्वास करो कि वही सर्वव्यापी अन्तर्यामी प्रत्येक अणु-परमाणु में—तुम्हारे शरीर, मन और आत्मा में—ओत प्रोत है, तो फिर क्या तुम कभी उत्साह से वञ्चित रह सकते हो? मान लो, मैं पानी का एक छोटा-सा बुलबुला हूँ, और तुम एक पर्वत-प्राय तरंग हो तो इससे क्या? वह अनन्त समुद्र जैसा तुम्हारे लिये, वैसा ही मेरे लिए भी आश्रय है। उस प्राण, शक्ति और आध्यात्मिकता के प्रशान्त समुद्र में जैसा तुम्हारा, वैसा ही मेरा भी अधिकार है। मेरे जन्म से ही—मेरे अन्दर जीवन होने से ही—यह प्रमाणित हो रहा है कि भले ही तुम पर्वतप्राय ऊँचे हो, पर मैं भी उसी अनन्त जीवन, अनन्त शिव और अनन्त शक्ति के साथ नित्य संयुक्त हूँ। अतएव, भाइयो! आप अपनी सन्तानों को बाल्यकाल से ही इस महान्, जीवनप्रद, उच्च और महत्त्व-विधायक तत्व की शिक्षा देना शुरू कर दीजिये। उन्हें जान-बूझकर अद्वैतवाद की ही शिक्षा देने की कोई आवश्यकता नहीं। आप चाहे अद्वैतवाद की शिक्षा दें या जिस किसी 'वाद' की—मैंने यह पहले ही बता दिया है कि आत्मा की पूर्णता के इस अपूर्व सिद्धान्त को सभी सम्प्रदाय वाले समान रूप से मानते हैं। हमारे पूज्य दार्शनिक कपिल महर्षि ने कहा है कि पवित्रता यदि आत्मा का स्वरूप न हो, तो वह कभी पवित्रता को

प्राप्त भी नहीं हो सकती। कारण, जो स्वभावतः पूर्ण नहीं है, वह यदि किसी प्रकार पूर्णता पा भी ले, तो वह पूर्णता उसमें स्थिर भाव से नहीं रह सकती—उससे हट ही जायगी। अगर अपवित्रता ही मनुष्य का स्वभाव हो, तो भले ही वह कुछ समय के लिये पवित्रता प्राप्त कर ले; पर वह सदा के लिये अपवित्र ही बना रहेगा। कभी-न-कभी ऐसा समय आएगा, जब वह पवित्रता धुल जायगी—दूर हो जायगी, और फिर वही पुरानी स्वाभाविक अपवित्रता अपना सिक्का जमा लेगी। इसीलिये हमारे सभी दार्शनिकों ने कहा है कि पवित्रता ही हमारा स्वभाव है, अपवित्रता नहीं; पूर्णत्व ही हमारा स्वभाव है, अपूर्णता नहीं—इसे आप लोग सदा स्मरण रखें। शरीर त्याग करते समय एक महर्षि ने अपने मन से कहा है, अपने किये हुए उत्कृष्ट कार्यों और ऊँचे विचारों का स्मरण करते रहना।* यह सुन्दर दृष्टान्त सदा याद रखने योग्य है। देखिये, उन्होंने अपने मन से अपनी कमजोरियों की याद करने के लिये नहीं कहा है। यह जरूर है कि मनुष्य में कमजोरियाँ भी बहुत हैं; पर फिर भी तुम अपने वास्तविक स्वरूप को सदा याद रखो—बस, इन दोषों और दुर्बलताओं के दूर करने का यही अमोघ उपाय है।

भद्रमहोदयो, मैं समझता हूँ कि ऊपर जो मैंने कई विषय बताये हैं, उन्हें भारतवर्ष के सभी भिन्न भिन्न सम्प्रदाय वाले स्वीकार करते हैं, और सम्भवतः भविष्य में इस सर्वस्वीकृत आधार पर सभी

* ॐ क्रतो स्मर कृतं स्मर, क्रतो स्मर कृतं स्मर।—ईशोपनिषद्, १७

सम्प्रदायों के लोग—वे उदार हों या कट्टर, पुरानी लकीर के फकीर हों या नई रोशनीवाले—सभी सम्मिलित होंगे। पर सबसे बढ़कर एक बात और है, जिसे सदा याद रखना परम आवश्यक है। मुझे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हम लोग उस परमावश्यक विषय को कभी कभी भूल जाते हैं। वह बात यह है कि हमारे भारतवर्ष में धर्म का मतलब है ‘प्रत्यक्ष अनुभूति’। यदि यह न हो, तो फिर ‘धर्म’ वास्तव में ‘धर्म’ कहलाने योग्य न रहे। हमें कोई यह बात सिखाने का अधिकार नहीं है कि जब तुम इस मत को स्वीकार करोगे, तभी तुम्हारा उद्धार होगा। कारण, हम इस बात पर विश्वास नहीं कर सकते। तुम अपने को जैसा बतलाओगे, अपने को जैसे साँचे में ढालोगे, वैसे ही बनोगे। तुम जो कुछ हो, जैसे हो, ईश्वर की कृपा और अपनी चेष्टा से वैसे ही बने हो, अतएव, किसी मतविशेष पर विश्वास करने से तुम्हारा कोई विशेष उपकार नहीं होगा। “अनुभूति”—यह महती शक्तिमयी वाणी भारत के ही आध्यात्मिक गगनमण्डल से आविर्भूत हुई है, और एकमात्र हमारे ही शास्त्रों ने बार बार कहा है—“ईश्वर के दर्शन करने होंगे।” यह बात बड़े साहस की है, इसमें सन्देह नहीं; पर साथ ही यह अक्षरशः सत्य भी है। धर्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करनी होगी, केवल सुनने से काम न चलेगा—तोते की तरह कुछ थोड़े से शब्द और धर्म-विषयक बातें रट लेने से भी काम न चलेगा, सिर्फ बुद्धि द्वारा स्वीकार कर लेने से भी काम न चलेगा—आवश्यकता है हमारे अन्दर धर्म के प्रवेश करने की।

ईश्वर के ऊपर जो हम विश्वास करते हैं, उसका कारण केवल हमारी जबरदस्त दलीलें या तर्क-युक्तियाँ ही नहीं हैं; बल्कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में हमारा एक और सर्वोच्च प्रमाण है, और वह यही है कि हमारे यहाँ के प्राचीन तथा अर्वाचीन सभी पहुँचे हुए लोगों ने ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त किया है। आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिये हमारे यहाँ जो अकाट्य और दृढ़ युक्तियाँ हैं, केवल इसी के लिये हम आत्मा के अस्तित्व पर विश्वास करते हों, सो बात नहीं; बल्कि हमारे विश्वास का प्रधान आधार यह है कि प्राचीन काल में भारतवर्ष के हजारों व्यक्तियों ने आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन किये हैं, और आज भी यदि ढूंढ़ा जाय, तो कम-से-कम दस आत्मदर्शी तो अवश्य ही मिल जायँगे। और, भविष्य में भी ऐसे हजारों आत्मदर्शी होंगे। जब तक मनुष्य ईश्वर के दर्शन न कर लेगा, जब तक आत्मा के दर्शन न कर लेगा, तब तक उसकी मुक्ति होनी असम्भव है। अतएव, सबसे पहले, हमें इस विषय को भलीभाँति समझना होगा, और हम लोग इस विषय को जितना ही अधिक समझेंगे, उतना ही हमारे यहाँ की साम्प्रदायिकता घटती जायगी; कारण, जिसने ईश्वर के दर्शन पाये हैं—उनका साक्षात्कार प्राप्त किया है—वही सच्चा धार्मिक व्यक्ति है।

> "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
> क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥"

" जिसने उन्हें देख लिया, जो हमारे बहुत ही पास भी हैं– और बहुत दूर भी हैं, उसके हृदय की गाँठ खुल गई, उसके सब संशय दूर हो गये, और एक मात्र वही कर्मफल के बन्धन से छुटकारा पा गया। "

अफसोस! हम लोग प्रायः बेकार और अर्थहीन वागाडम्बर को ही आध्यात्मिक सिद्धान्त समझ बैठते हैं—पाण्डित्य-पूर्ण वक्तृताओं की झंकार सुनकर उसे ही हम धर्मानुभूति समझ लेते हैं। सारी साम्प्रदायिकताओं और सारे विरोध-भावों का मूल कारण यही है। अगर हम लोग एकबार इस बात को भलीभाँति समझ लें कि 'प्रत्यक्ष अनुभूति' ही प्रकृत धर्म है, तो हम अपने हृदय की ओर दृष्टि फेरकर यह समझने की चेष्टा करेंगे कि हम धर्म के सत्य की उपलब्धि की ओर कहाँ तक अग्रसर हुए हैं। तभी हम यह बात समझ सकेंगे कि हम जैसे अपने आप अन्धकार में घूम रहे हैं, वैसे ही औरों को भी अँधेरे में घुमा रहे हैं। बस, इतना समझने पर ही हमारी साम्प्रदायिकता और लड़ाई मिट जायगी। यदि कोई तुमसे साम्प्रदायिक झगड़ा करने को तैयार हो, तो उससे पूछो कि उसने क्या ईश्वर के दर्शन किये हैं? क्या उसे कभी आत्मदर्शन प्राप्त हुआ है? यदि नहीं, तो उससे कह दो कि उसे ईश्वर का नाम प्रचारित करने का कोई अधिकार नहीं, क्योंकि वह तो स्वयं अन्धकार में घूम रहा है और फिर तुम्हें भी उसी अन्धकार में ले जाने की चेष्टा करता है। तुम दोनों ही

उसी तरह गड्ढे में जा गिरोगे, जिस तरह अन्धा अन्धे को ले जाय और दोनों गढ्ढे में जा गिरें। अतएव किसी दूसरे के साथ विवाद करने से पहले ज़रा सोच-समझ लेना, तब आगे बढ़ना। सब को अपनी-अपनी राह से चलने दो—'प्रत्यक्ष अनुभूति' की ओर अग्रसर होने दो। सभी अपने-अपने हृदय में उस सत्य-स्वरूप आत्मा के दर्शन करें। जब हम उस भूमा के, अनावृत सत्य-स्वरूप के दर्शन कर पायेंगे, तभी उससे प्राप्त होने वाले अपूर्व आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। भारत के उन सब सत्यदर्शी प्राचीन ऋषियों ने एक स्वर से जिनकी बात कही है, हम भी उन्हीं के दर्शन पायेंगे। फिर उस समय हमारे हृदयों से आप ही आप केवल प्रेमपूर्ण वाणी निकलेगी। कारण, जो साक्षात् प्रेम-स्वरूप हैं, वे ही हमारे हृदय में अधिष्ठित रहेंगे। बस उसी समय हमारे सारे साम्प्रदायिक भेद-भाव दूर हो जायेंगे—तभी हम अपने को 'हिन्दू' कहने के अधिकारी होंगे—तभी हम प्रत्येक हिन्दू-नामधारी व्यक्ति के सच्चे स्वरूप को समझकर तथा उसे हृदय में धारण करते हुए उससे गहरा प्रेम कर सकेंगे।

मेरी बात पर विश्वास करो, केवल तभी तुम वास्तव में हिन्दू कहलाने योग्य होगे जब 'हिन्दू' शब्द को सुनते ही तुम्हारे अन्दर बिजली दौड़ने लग जायगी। केवल तभी तुम अपने को सच्चा हिन्दू कह सकोगे, जब तुम किसी प्रान्त या कोई भी भाषा बोलने वाले हिन्दू संज्ञक व्यक्ति को एकदम अपना सगा समझोगे। केवल तभी तुम अपने को सच्चा हिन्दू मान सकोगे, जब किसी भी हिन्दू कहलाने

वाले के दुःख में दुःख अनुभव करोगे—अपनी सन्तान पर विपत्ति आने से जैसे तुम व्याकुल हो उठते हो, वैसे ही उसके लिये भी व्याकुल होगे। केवल तभी तुम अपने को सच्चा हिन्दू बता सकोगे, जब तुम उनके सारे अत्याचारों को सहन करने के लिये तैयार हो जाओगे। इसके सर्वोच्च और ज्वलन्त दृष्टान्त हैं—तुम्हारे ही गुरु गोविंदसिंह, जिनकी चर्चा मैं आरम्भ में ही कर चुका हूँ। इन महात्मा ने देश के शत्रुओं के विरुद्ध लोहा लिया, हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये अपने कलेजे का खून बहाया, अपने पुत्रों को अपनी आँखों के सामने बलिदान होते देखा—पर, जिनके लिये उन्होंने अपना और अपने प्राणों से बढ़कर प्यारे पुत्रों का खून बहाया, उन्हीं लोगों ने, इनकी सहायता करना तो दूर रहा, उलटे इन्हें त्याग दिया!—यहाँ तक कि देश से निकाल दिया! अन्त में मर्मान्तक चोट खाकर यह शेर धीरे से अपने जन्मस्थान को छोड़ दक्षिण भारत में जाकर वहीं मृत्यु की राह देखने लगा; परन्तु अपने जीवन के अन्तिम मुहूर्त तक इन्होंने अपने उन कृतघ्न देशवासियों के प्रति कभी अभिशाप का एक शब्द भी मुँह से नहीं निकाला। मेरी बात पर गौर करो—सुनो। यदि तुम देश का हित-साधन करना चाहते हो, तो समझ लो कि प्रत्येक मनुष्य को गुरु गोविन्दसिंह बनना पड़ेगा। आप को अपने देशवासियों में भले ही हजारों दोष दिखाई दें, पर आप उनके हिन्दू रक्त का ध्यान रखिये। तुम्हें पहले अपने इन स्वजातीय नर-रूप देवताओं की पूजा करनी होगी, भले ही वे तुम्हारी बुराई के लिये लाख

चेष्टा किया करें। इनमें से प्रत्येक व्यक्ति यदि तुम्हारे ऊपर अभिशाप और निन्दा की बौछार करे, तो भी तुम इनके प्रति प्रेम-पूर्ण वाणी का ही प्रयोग करो। यदि ये तुम्हें त्याग दें, पैरों से ठुकरा दें, तो तुम उसी वीर-केशरी गोविन्दसिंह की तरह समाज से दूर जाकर नीरव भाव से मौत की राह देखो। जो ऐसा कर सकता है, वही सच्चा हिन्दू कहलाने का अधिकारी है। हमें अपने सामने सदा इसी प्रकार का आदर्श उपस्थित रखना होगा। पारस्परिक विरोध-भाव को भूलकर चारों ओर प्रेम का प्रवाह बहाना होगा।

लोग 'भारतोद्धार' के लिये जो जी में आये कहें; मैंने जीवन भर काम किया है, कम से कम काम करने की चेष्टा की है; मेरा यही अनुभव है कि जब तक तुम सच्चे धार्मिक नहीं होते, तब तक भारत का उद्धार होना असम्भव है। केवल भारत ही नहीं सारे संसार का कल्याण इसी पर निर्भर है। कारण, मैं तुम्हें साफ-साफ बता देता हूँ कि इस समय पाश्चात्य सभ्यता अपनी नींव तक हिल गई है। जड़वाद की कच्ची रेतीली नींव पर खड़ी होनेवाली बड़ी-से-बड़ी इमारतें भी एक-न-एक दिन अवश्य ही नीचे आ रहेंगी। इस विषय में संसार का इतिहास ही सब से बड़ा साक्षी है। कितनी जातियों ने जड़वाद की नींव पर अपने गौरव का प्रासाद खड़ा कर एक दूसरी की अपेक्षा अपना सिर ऊपर उठाया था और संसार के आगे यह घोषणा की थी कि जड़ के सिवाय मनुष्य और कुछ नहीं है। जरा गौर से देखिये। पाश्चात्य भाषा में मौत के लिये

कहते हैं—"मनुष्य ने आत्मा छोड़ दी" (A man gives up the ghost); पर हमारे यहाँ की भाषा में कहते हैं, "अमुक ने शरीर छोड़ दिया।" पाश्चात्य-देशवासी अपनी बात कहते समय पहले देह को ही लक्ष्य करता है, उसके बाद उसकी एक आत्मा है—इस प्रकार वह उल्लेख करता है। पर हम लोग पहले ही अपने को आत्मा समझते हैं, उसके बाद हमारी एक देह है, ऐसा कहा करते हैं। इन दोनों विभिन्न वाक्यों की आलोचना करने पर तुम देखोगे कि प्राच्य और पाश्चात्य विचार-प्रणाली में कितना अन्तर है। इसीलिये जितनी सभ्यताएँ भौतिक सुख-स्वच्छन्दता की नींव पर कायम हुई थीं, वे थोड़े ही समय के लिये जीवित रहकर एक एक करके सभी लुप्त हो गईं; परन्तु भारत की सभ्यता—बल्कि उन देशों की सभ्यता भी जिन्होंने भारत के चरणों के पास बैठकर शिक्षा ग्रहण की है, जैसे चीन, जापान आदि—अब तक भी जीवित हैं। इतना ही नहीं, उनमें पुनरुत्थान के लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। 'फिनिक्स'* के समान हजारों बार नष्ट होने पर भी वे पुनः अधिक तेजस्वी होकर प्रस्फुरित होने को तैयार हैं। पर जड़वाद के आधार पर जो सभ्यताएँ स्थापित हैं वे यदि एक बार नष्ट हो गईं, तो फिर उठ नहीं सकतीं—एक बार यदि महल ढह पड़ा, तो बस सदा के लिये धूल में मिल गया। अतएव, धैर्य के साथ राह देखते रहो, भावी गौरव हमारे लिये संचय करके रखा हुआ है।

* ग्रीक दन्तकथाओं के अनुसार फिनिक्स (Phoenix) एक चिड़िया है जो अकेली ५०० वर्ष तक जीती है और पुनः अपने भस्म में से जी उठती है।

घबड़ाओ मत, और न किसी दूसरे का अनुकरण ही करने की चेष्टा करो। अन्य आवश्यक बातों के साथ हमें यह बात भी सदा याद रखनी होगी कि दूसरे का अनुकरण करना सभ्यता या उन्नति का लक्षण नहीं है। मैं यदि स्वयमेव राजा की-सी पोशाक पहन लूँ तो क्या इतने ही से मैं राजा बन जाऊँगा? शेर की खाल ओढ़ कर गधा कभी शेर नहीं हो सकता। नीच, शक्तिहीन और डरपोक की तरह अनुकरण करना कभी उन्नति का कारण नहीं हो सकता। वैसा करना तो मनुष्य के अधःपात का लक्षण है। जब मनुष्य अपने आप पर घृणा करने लग जाता है, तब समझना चाहिये कि उस पर अन्तिम चोट बैठी है। जब वह अपने पूर्व-पुरुषों को मानने में लज्जित होता है, तो समझ लो कि उसका विनाश निकट है। यद्यपि मैं हिन्दू-जाति में एक नगण्य व्यक्ति हूँ, तथापि अपनी जाति और अपने पूर्व-पुरुषों के गौरव से अपना गौरव मानता हूँ। अपने को हिन्दू बताते हुए—हिन्दू कहकर अपना परिचय देते हुए—मुझे एक प्रकार का गर्व-सा होता है। मैं तुम लोगों का एक तुच्छ सेवक होने में अपना गौरव समझता हूँ। तुम लोग आर्य-ऋषियों के वंशधर हो—उन ऋषियों के, जिनकी महत्ता की तुलना नहीं हो सकती। एतद्देशवासी होने का मुझे गर्व है। अतएव, आत्म-विश्वासी बनो। पूर्व-पुरुषों के नाम से अपने को लज्जित नहीं, गौरवान्वित समझो। याद रहे, किसी और का अनुकरण तो कदापि न करना। जब कभी तुम औरों के विचारों

का अनुकरण करोगे, तभी तुम अपनी स्वाधीनता गँवा बैठोगे। यहाँ तक कि आध्यात्मिक विषय में भी यदि तुम दूसरों के आज्ञाधीन हो कार्य करोगे तो केवल अपनी चिन्ता-शक्ति ही नहीं, सारी शक्तियाँ भी गँवा बैठोगे।

तुम्हारे अन्दर जो कुछ है, अपनी शक्तियों द्वारा उनका विकास करो, पर किसी दूसरे का अनुकरण करके नहीं। हाँ, दूसरों के पास अगर कुछ अच्छाई हो, तो उसे ग्रहण कर लो। औरों के पास से तो हमें कुछ सीखना ही होगा। मिट्टी में बीज बोने पर जल, मिट्टी और हवा आदि से रस संग्रह करके वह बीज क्रमशः एक विशाल वृक्ष बन जाता है। जल, वायु और मिट्टी आदि से रस संग्रह करके भी वह वृक्ष का ही रूप धारण करता है, मिट्टी या जल के ढेर का नहीं। जैसे वह बीज मिट्टी और जल आदि से रस के रूप में आवश्यक सारांश खींचकर अपनी प्रकृति के अनुसार एक विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेता है, वैसे ही औरों से उत्तम बातें सीख कर वृक्षवत् उन्नत बनो। जो सीखना नहीं चाहता, वह तो पहले ही मर चुका है। महर्षि मनु ने कहा है—

"श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥"

—'नीच व्यक्ति की सेवा करके भी उससे श्रेष्ठ विद्या सीखने का प्रयत्न करो। चाण्डाल द्वारा भी श्रेष्ठ धर्म की शिक्षा ग्रहण करो' इत्यादि।

औरों के पास जो कुछ भी अच्छा पाओ, सीख लो; पर उसे स्वयं के भाव के साँचे में ढाल लेना होगा—दूसरे की शिक्षा ग्रहण करते समय उसके ऐसे अनुगामी न बनो कि अपनी स्वतन्त्रता गँवा बैठो। भारत के इस जातीय जीवन को भूल मत जाना—पल भर के लिये भी यह न सोचना कि भारतवर्ष के सभी अधिवासी अगर अमुक जाति की वेश-भूषा धारण कर लेते, या अमुक जाति के आचार-व्यवहारादि के अनुयायी बन जाते, तो बड़ा अच्छा होता। केवल कुछ ही वर्षों का अभ्यास छोड़ देना कितना कठिन होता है, यह तुम भली भाँति जानते हो। ईश्वर ही जानता है कि कितने सहस्र वर्षों से यह प्रबल जातीय जीवन-स्रोत एक विशेष दिशा की ओर प्रवाहित हो रहा है; ईश्वर ही जानता है कि तुम्हारे रक्त के अन्दर कितने सहस्र वर्षों का संस्कार जमा हुआ है। और क्या आप यह कह सकते हैं कि वह प्रबल धारा जो प्रायः अपने समुद्र के समीप पहुँच चुकी है, पुनः उलटकर हिमालय के बरफीले स्थान को वापस जा सकती है? यह असम्भव है। यदि ऐसी चेष्टा करोगे, तो स्वयं ही नष्ट हो जाओगे। अतएव, इस जातीय जीवन-स्रोत को पूर्ववत् प्रवाहित होने दो। हाँ, जो बाँध इसके रास्ते में रुकावट डाल रहे हैं, उन्हें काट दो, इसका रास्ता साफ करके प्रवाह को मुक्त कर दो; तभी यह जातीय जीवन-स्रोत अपनी स्वाभाविक गति से प्रवाहित होकर आगे बढ़ेगा—तभी यह जाति अपनी सर्वाङ्गीण उन्नति करते करते अपने चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होगी।

भाइयो! भारत की आध्यात्मिक उन्नति के विषय में मैंने उपर्युक्त बातें कही हैं। इनके सिवा और भी बहुतेरी बड़ी-बड़ी समस्याएँ हैं, जिनकी आलोचना समयाभाव से आज मैं नहीं करता। उदाहरण के लिये जाति-भेद-सम्बन्धी अद्भुत समस्या को ही ले लीजिये। मैं जीवन भर इस समस्या पर ही हरएक पहलू से विचार करता हूँ। भारत के प्रायः सभी जातियों के लोगों से मिलकर मैंने इस समस्या के हल करने की चर्चा की है, और अभी तक कर रहा हूँ। पर जितना ही अधिक इस विषय पर मैं विचार करता हूँ उतनी ही अधिक कठिनाइयाँ मेरे सामने आ रही हैं, और इसके उद्देश्य तथा तात्पर्य के विषय में उतना ही अधिक मैं किंकर्तव्य-विमूढ़ होता जा रहा हूँ। अन्त में अब मेरी आँखों के आगे एक क्षीण आलोक-रेखा सी दिखाई देने लगी है। इधर कुछ दिनों से इसका मूल उद्देश्य कुछ-कुछ मेरी समझ में आने लगा है। इसके बाद फिर खान-पान की समस्या भी बड़ी विषम है। वास्तव में यह एक बड़ी जटिल समस्या है। साधारणतः हम लोग इसे जितना अनावश्यक समझते हैं, सच पूछो तो यह उतना अनावश्यक नहीं है। मैं तो अब इस सिद्धान्त पर आ पहुँचा हूँ कि आजकल खान-पान के बारे में हम लोग जिस बात पर ज़ोर देते हैं, वह एक बड़ी विचित्र बात है—वह शास्त्रानुमोदित प्रथा नहीं है। अर्थात् खान-पान में वास्तविक पवित्रता की अवहेलना कर हम लोग कष्ट पा रहे हैं—शास्त्रानुमोदित भोजन-प्रथा को एकदम भूल गये हैं।

इसी प्रकार, और भी कई आवश्यक विषय हैं। उन्हें भी मैं आप लोगों के सम्मुख उपस्थित कर देना चाहता हूँ। साथ ही, यह भी बतलाना चाहता हूँ कि इन समस्याओं के हल करने या इन्हें कार्य रूप में परिणत करने का क्या उपाय है, तथा इस विषय पर बहुत कुछ सोचने-विचारने के बाद मैं किस सिद्धान्त पर पहुँचा हूँ, सभी बातें आप लोगों के सामने उपस्थित कर देना चाहता हूँ। पर दुःख है कि विशेष विलम्ब हो जाने के कारण मैं आप लोगों का अधिक समय लेना नहीं चाहता। अतएव, जातिभेद आदि अन्यान्य समस्याओं पर मैं फिर कभी कुछ कहूँगा। आशा है, भविष्य में हम लोग शान्ति और सुश्रृङ्खला के साथ सभा का कार्य आरम्भ करने की चेष्टा करेंगे।

सज्जनो, अब केवल एक बात और कहकर मैं आध्यात्मिक तत्व-विषयक अपना वक्तव्य समाप्त कर दूँगा। भारत का धर्म बहुत दिनों से गतिहीन है—वह स्थिर होकर एक जगह टिका हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि प्राचीन काल की तरह राज-महल से लेकर दरिद्र के झोपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्म का प्रवेश हो। याद रहे धर्म ही इस जाति का साधारण उत्तराधिकार एवं जन्मसिद्ध स्वत्व है। उस धर्म को हरएक आदमी के दरवाजे तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचाना होगा। ईश्वर के राज्य में जिस प्रकार सब के लिये समानरूप से वायु प्राप्त

होती है, उसी प्रकार भारतवर्ष में धर्म को सुलभ बनाना होगा। इसी प्रकार भारत में कार्य करना होगा; पर छोटी-मोटी दलबन्दियों या सम्प्रदायों द्वारा नहीं। कार्य-प्रणाली के विषय में अभी मैं आपको इतना ही इशारा कर सकता हूँ कि जिन विषयों में हम सब का एक मत है, उनका प्रचार किया जाय, फिर तो जिन विषयों में मत-भेद हैं, वे आप ही आप दूर हो जायेंगे। मैंने भारतवासियों से बार बार कहा है और अब भी कह रहा हूँ कि घर में यदि सैकड़ों वर्षों से अन्धकार फैला हुआ है, तो क्या 'घोर अन्धकार!' 'भयंकर अन्धकार!!' कहकर चिल्लाने से अन्धकार दूर हो जायगा? नहीं; रोशनी जला दो, फिर देखो कि अँधेरा आप ही आप दूर हो जाता है या नहीं। मनुष्य के संस्कार का यही रहस्य है। मनुष्यों के हृदय में उच्चतर विषय और भावों का समावेश करो—पहले ही किसी पर अविश्वास करके कार्यक्षेत्र में मत उतरो। मनुष्य पर—बुरे से बुरे मनुष्य पर भी—विश्वास करके मैं कभी विफल नहीं हुआ हूँ। सब जगह मुझे इच्छित फल ही प्राप्त हुआ है—सर्वत्र सफलता ही मिली है। अतएव, मनुष्य पर विश्वास करो—चाहे वह पण्डित हो या घोर मूर्ख, साक्षात् देवता जान पड़े या मूर्तिमान शैतान; पर मनुष्य पर अवश्य विश्वास करो। तदुपरान्त यह समझने की चेष्टा करो कि उसमें किसी प्रकार असम्पूर्णता है या नहीं। यदि वह कोई गलती करे, अत्यन्त घृणित और असार मत ग्रहण करे, तो भी यही समझो कि वह अपने असली स्वभाव के कारण नहीं,

बल्कि ऊँचे आदर्श के अभाव के कारण ही, वैसा कर रहा है। यदि कोई आदमी असत्य की ओर जाता है, तो उसका कारण यही समझो कि वह सत्य को पकड़ नहीं पाता। अतएव, मिथ्या को दूर करने का एक मात्र उपाय यही है कि उसे सत्य का ज्ञान कराया जाय। उस ज्ञान को पाकर वह उसके साथ अपने मन के भाव की तुलना करे। तुमने तो उसे सत्य का असली रूप दिखा दिया– बस यहीं तुम्हारा काम समाप्त हो गया। अब वह स्वयं उस सत्य के साथ अपने भाव की तुलना कर देखे। यदि तुमने वास्तव में उसे सत्य का ज्ञान करा दिया है, तो निश्चय जानो, मिथ्या भाव अवश्य दूर हो जायगा। प्रकाश कभी अन्धकार का नाश किये बिना नहीं रह सकता। सत्य अवश्य ही उसके भीतर के सद्भावों को प्रकाशित करेगा। यदि सारे देश का आध्यात्मिक संस्कार करना चाहते हो, तो उसके लिये यही रास्ता है—एक मात्र यही रास्ता है। वाद-विवाद या लड़ाई-झगड़े से कभी अच्छा फल नहीं हो सकता। उनसे यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि तुम लोग जो कुछ कर रहे हो, वह ठीक नहीं है—खराब है। आवश्यकता तो इस बात की है कि जो कुछ अच्छा है, उसे उनके सामने रख दो; फिर देखो, वे कितने आग्रह के साथ उसे ग्रहण करते हैं। मनुष्यमात्र के अन्दर जो अविनाशी ईश्वरीय शक्ति है वह, जो कुछ भी अच्छा कहलाने योग्य है उसे, अवश्य हाथ फैलाकर ग्रहण करती है।

जो हमारी समग्र जाति के सृष्टि-कर्ता और रक्षक हैं, जो हमारे पूर्वपुरुषों के ईश्वर हैं–चाहे वे विष्णु, शिव, शक्ति या गणपति

आदि जिस किसी नाम से पुकारे जाते हों—साकार हों या निराकार, सगुण हों या निर्गुण—जिन्हें जानकर हमारे पूर्वपुरुषों ने "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" कहा है, वे अपना अनन्त प्रेम लेकर हमारे अन्दर प्रवेश करें—हमारे ऊपर अपने शुभाशीर्वादों की वर्षा करें, ताकि उनकी कृपा से हम एक दूसरे को समझ सकें, हम वास्तविक प्रेम और प्रबल सत्यानुराग के साथ एक दूसरे के लिये कार्य कर सकें और भारत की आध्यात्मिक उन्नति के लिये किये जाने वाले महत्कार्य के अन्दर हमारे व्यक्तिगत यश, व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा व्यक्तिगत गौरव की अणुमात्र आकांक्षा भी प्रवेश न करने पाये।

---

४. हिन्दू धर्म और उसका दर्शनशास्त्र*

धार्मिक मतों का जो प्रथम वर्ग हमारे सम्मुख दिखाई पड़ता है—मेरा अर्थ यथार्थ धार्मिक मतों से है, न कि अत्यन्त निम्न श्रेणी के मतों से जो 'धर्म' संज्ञा के योग्य नहीं हैं—उन सभी में दैवी स्फूर्ति तथा 'ईश्वर निश्वसित' आप्त वाक्य आदि की कल्पना समाविष्ट है। धार्मिक मतों का प्रथम वर्ग ईश्वर की कल्पना से प्रारम्भ होता है। हमारे सम्मुख यह विश्व है और वह विश्व किसी विशेष व्यक्ति द्वारा निर्माण किया गया है। इस विश्वब्रह्माण्ड में जो कुछ है, सभी उसी ईश्वर द्वारा रचा गया है। उसके साथ आगे चलकर, आत्मा की कल्पना आती है कि यह शरीर है और इस शरीर के भीतर कुछ है, जो शरीर नहीं है। हमारी जानकारी में धर्म की यही अत्यन्त प्राथमिक कल्पना है। भारतवर्ष में हमें इसके कुछ थोड़े से अनुयायी मिल सकते हैं, परन्तु यह कल्पना बहुत पहले ही त्याग दी गई। भारतीय धर्मों का प्रारम्भ बहुत विचित्र ढंग से हुआ है। बहुत बारीक छानबीन, हिसाब और अनुमान करने पर ही हम यह सोच सकते हैं कि भारतीय धर्मों की कभी यह अवस्था रही। जिस प्रकट स्वरूप में हम उन्हें पाते हैं, वह तो दूसरी सीढ़ी है, प्रथम नहीं। अत्यन्त प्राथमिक अवस्था में सृष्टि की कल्पना बड़ी ही विचित्र है

* पश्चिम में दिया हुआ एक व्याख्यान।

और वह यह है कि इस सम्पूर्ण विश्व की रचना ईश्वर की इच्छा से शून्य में से की गई है; इस सृष्टि का अस्तित्व नहीं था और उस शून्य से ही यह सब निकला है। द्वितीय अवस्था में हम देखते हैं कि इस सिद्धान्त में शंका उठाई जा रही है। असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? * वेदान्त में सर्वप्रथम यही प्रश्न पूछा जाता है। अगर यह विश्व सत्तात्मक है, तो वह किसी सद्वस्तु से ही निकला होगा; क्योंकि यह समझना तो सरल है कि हर जगह शून्य से तो शून्य ही निकलता है, 'कुछ नहीं' से 'कुछ नहीं' ही निकलता है। मानवी हाथों से जो कुछ भी कर्म किया जाता है, उसके लिये उपादान की आवश्यकता हुआ करती है। यदि गृह निर्माण हुआ है, तो पहले उसका उपादान विद्यमान था; अगर नाव बनी है तो पहले उसकी सामग्री थी; अगर कोई हथियार बनाये गये हैं, तो उनकी भी सामग्री पहले से ही थी। कार्य की उत्पत्ति इसी प्रकार हुआ करती है। अतः यह स्वाभाविक ही था कि शून्य में से इस ब्रह्माण्ड की रचना की गई, यह कल्पना त्याग दी गई और जिस उपादान से यह विश्व गढ़ा गया है, उस उपादान के अनुसन्धान का प्रारम्भ हुआ। धर्म का समग्र इतिहास यथार्थ में इस उपादान-कारण की खोज ही है। किस उपादान से यह सब गढ़ा गया है? निमित्त कारण या ईश्वर के प्रश्न को अलग रखकर, ईश्वर ने विश्व की रचना की, इस प्रश्न को अलग रखते

---

* कथमसतः सज्जायेत इति।

—छान्दोग्य उपनिषद्, ६।२।२

हुये सब से महत्व का एवं जटिल प्रश्न तो यही है, कि उस ईश्वर ने इसे किस उपादान से बनाया? सभी दर्शन-शास्त्र मानो इसी प्रश्न पर निर्भर हैं?

इस समस्या का एक उत्तर यह है कि प्रकृति, ईश्वर और जीव अनादि अनन्त सत्ताएँ हैं, मानो तीन नित्य समानान्तर रेखाएँ हों। इनमें से प्रकृति और जीव परतंत्र एवं ईश्वर स्वतंत्र सत्ता है। प्रत्येक आत्मा जड़ परमाणु के समान ईश्वर की इच्छा पर पूर्णतया अवलम्बित है। अन्य विषयों का विचार करने के पूर्व हम आत्मासम्बन्धी विचार को ही लेंगे और इससे यह देखेंगे कि सभी वैदान्तिक दर्शनशास्त्र पाश्चात्य दर्शन से अत्यन्त पृथक् हैं। उन सबमें एक ही सामान्य मनस्तत्व है। भारतवर्ष के उन तत्ववेत्ताओं का दार्शनिक सिद्धान्त चाहे जो रहा हो, पर उन सभों का मनस्तत्व वही रहा है जो प्राचीन सांख्य दर्शन का है। उसके अनुसार, सर्वप्रथम बाह्य इन्द्रियों में से आने वाले स्पंदन के भीतर पहुँचने से ही ज्ञान उत्पन्न होता है; बाह्य इन्द्रियों से वे अन्तरिन्द्रियों में पहुँचते हैं, अन्तरिन्द्रियों से मन में, मन से बुद्धि में और वहाँ से उस एक वस्तु में, जिसे आत्मा कहते हैं। आधुनिक शरीर-विज्ञान में आने पर हम देखते हैं कि उसे सभी भिन्न भिन्न संवेदनाओं के विभिन्न केन्द्रों का पता लगा है। प्रथम तो उसे निम्न श्रेणी के केन्द्रों का पता लगता है, तत्पश्चात् उससे उच्च श्रेणी के केन्द्र प्राप्त होते हैं, ये दोनों केन्द्र परस्पर ठीक अन्तरिन्द्रियों और मन से मिलते-जुलते हैं,

पर एक ऐसा केन्द्र नहीं मिला है, जो अन्य सभी केन्द्रों का नियमन करे। अतः शरीर-विज्ञान यह नहीं बता सकता कि इन सभी केन्द्रों में एकसूत्रता कहाँ से आती है, कहाँ पर ये केन्द्र एक होते हैं? मस्तिष्क में सब केन्द्र अलग अलग हैं और वहाँ कोई ऐसा एक केन्द्र नहीं है जो अन्य केन्द्रों का नियमन करे; अतः जहाँ तक हिन्दू मनोविज्ञान-शास्त्र की गति है, इस विषय में उसका विरोध नहीं हुआ है। इस प्रकार की एकसूत्रता अवश्य होनी चाहिये, ऐसी एक सत्ता अवश्य रहनी चाहिये जिसमें सभी विभिन्न संवेदनायें प्रतिबिम्बित—केन्द्रित होंगी, जिससे ज्ञान पूर्ण रूप से निष्पन्न हो सकेगा। जब तक इस प्रकार की कोई वस्तु न हो, तब तक मैं तुम्हारे विषय में, किसी चित्र या अन्य वस्तु के सम्बन्ध में कोई कल्पना नहीं कर सकता। यदि एकसूत्रता लानेवाली वह वस्तु न हो तो हम केवल देखेंगे ही, फिर कुछ समय के बाद केवल श्वास ही लेंगे, फिर केवल सुनेंगे, आदि आदि, और जब मैं किसी मनुष्य को बोलते सुनूँगा, तब मैं उसे बिलकुल देखूँगा नहीं, क्योंकि सभी केन्द्र अलग अलग हैं।

यह शरीर परमाणुओं से बना है, जिन्हें हम भौतिक पदार्थ कहते हैं और वह जड़ और अचेतन है। उसी प्रकार, जिसे वेदान्ती सूक्ष्म शरीर कहते हैं, वह भी जड़ और अचेतन है। उनके कहने के अनुसार वह जड़ परन्तु सूक्ष्म है, अत्यन्त सूक्ष्म परमाणुओं से बना है—इतने सूक्ष्म कि किसी भी सूक्ष्मदर्शक यंत्र से वे नहीं दीखते।

फिर उसका क्या कार्य है? वह सूक्ष्म शक्तियों का आधार है। जैसा कि यह स्थूल शरीर स्थूल शक्तियों का आधार है वैसे ही सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म शक्तियों का आधार है, जिन्हें हम 'विचार' कहते हैं। यह विचारशक्ति विभिन्न रूपों में प्रकाशित होती रहती है। प्रथम तो शरीर है, जो स्थूल जड़ पदार्थ है और स्थूल शक्तिमय है। जड़ पदार्थ के बिना शक्ति नहीं रह सकती। उसके रहने के लिये जड़ पदार्थ चाहिये ही, इसीलिये स्थूलतर शक्तियाँ शरीर में काम करती हैं; और वे ही शक्तियाँ सूक्ष्मतर बन जाती हैं; वह शक्ति जो स्थूल रूप में काम कर रही है, वही सूक्ष्म रूप में कार्य करती है और तब विचार में परिणत हो जाती है। इनमें कोई भेद नहीं है, केवल इतना ही है कि एक उसी वस्तु का स्थूल और दूसरा सूक्ष्म स्वरूप है। इस सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में भी कोई पार्थक्य नहीं है। सूक्ष्म शरीर भी भौतिक है, केवल इतना ही कि वह अत्यन्त सूक्ष्म जड़ वस्तु है। जैसे यह स्थूल शरीर स्थूल शक्तियों के कार्य का साधन है, ठीक उसी तरह सूक्ष्म शक्तियों के कार्य का साधन यह सूक्ष्म शरीर है।

अब प्रश्न यह है कि ये सब शक्तियाँ कहाँ से आती हैं? वेदान्तदर्शन के अनुसार प्रकृति में दो सत्ताएँ हैं—एक आकाश कहलाती है—वह पदार्थ है, अत्यन्त सूक्ष्म है; और दूसरी प्राण कहलाती है—वह शक्ति है। जो कुछ भी हम देखते हैं, अनुभव करते हैं या सुनते हैं—जैसे वायु, पृथ्वी या और भी कुछ—वे सब

भौतिक पदार्थ हैं—इसी आकाश से उत्पन्न हुये हैं। वह आगे चलकर प्राण की क्रिया से परिवर्तित होते होते सूक्ष्म से सूक्ष्मतर या स्थूल से स्थूलतर बनता रहता है। आकाश के समान प्राण भी सर्वव्यापी है और सभी वस्तुओं में ओतप्रोत है। आकाश जल के समान है और सृष्टि की अन्य सब वस्तुएँ उसी जल से बने हुये हिम-खण्ड के समान जल में तैर रहे हैं। प्राण ही वह शक्ति है जो इस आकाश को इन सभी विभिन्न रूपों में परिवर्तित करती है। स्थूल शरीर आकाश से बना हुआ उपकरण है, जिसके द्वारा प्राण स्थूल रूपों में—जैसे स्नायुओं के संचालन, चलने, बैठने, बोलने आदि में—प्रकट होता है। वह सूक्ष्म शरीर भी आकाश से—अत्यन्त सूक्ष्म आकाश से—उसी प्राण के विचार रूपी सूक्ष्म भाव में प्रकट होने के लिये बना है। अतः प्रथम तो यह स्थूल शरीर है, उसके परे यह सूक्ष्म या लिंग शरीर है और उसके परे जीव, यथार्थ मनुष्य है। जैसे नख कई बार काटे जा सकते हैं और तो भी वे हमारे शरीर के भाग हैं, अलग नहीं, ठीक इसी प्रकार का सम्बन्ध स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का है। ऐसी बात नहीं है कि मनुष्य का सूक्ष्म शरीर होता है और स्थूल शरीर भी होता है; शरीर तो एक ही है, पर जो अंश अधिक समय तक टिकता है, वह सूक्ष्म शरीर है और जो शीघ्र नष्ट हो जाता है वह स्थूल है। जैसे मैं इस नख को अनेकों बार काट सकता हूँ ठीक उसी तरह मैं लाखों बार इस स्थूल शरीर का पात करता हूँ, पर सूक्ष्म शरीर बना ही

रहेगा। द्वैतवादियों के मत के अनुसार, यह जीव—या यथार्थ मनुष्य—अत्यन्त सूक्ष्म, अणु है। यहाँ तक हम देखते हैं कि मनुष्य ऐसा व्यक्ति है, जिसका प्रथम तो स्थूल शरीर है जो अति शीघ्र नष्ट हो जाता है और तत्पश्चात् उसका सूक्ष्म शरीर है जो युगयुगान्तरों तक बना रहता है और तत्पश्चात् जीव है। वेदान्त मत के अनुसार यह जीव ठीक वैसा ही अनन्त है जैसा कि ईश्वर। प्रकृति भी अनन्त है, पर वह परिवर्तनशील अनन्त सत्ता है। प्रकृति के तत्व—प्राण और आकाश—अनन्त हैं, पर उनका चिरकाल विभिन्न रूपों में परिवर्तन होता रहता है; पर जीव आकाश से या प्राण से सृष्ट नहीं हुआ है। वह तो भौतिक पदार्थ नहीं है और इसी कारण सब काल रहने वाला है। वह प्राण और आकाश के किसी मिश्रण का परिणाम नहीं है; और जो मिश्रण का परिणाम नहीं है वह कभी नष्ट नहीं किया जा सकता, क्योंकि कारण-स्वरूप को पुनः प्राप्त होना ही नाश है। स्थूल शरीर आकाश और प्राण से बनी हुई संमिश्रित वस्तु है, अतः वह विघटित, नष्ट हो जायगी। सूक्ष्म शरीर भी दीर्घ काल के बाद नष्ट हो जायगा, पर जीव तो अमिश्र तत्व है और इसीलिये वह कभी नष्ट नहीं होगा। उसके कभी उत्पन्न न होने का भी यही कारण है। किसी अमिश्र तत्व की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। वही युक्ति यहाँ भी लागू है; जो मिश्र वस्तु है उसी की उत्पत्ति होती है। सम्पूर्ण प्रकृति, जिसमें लाखों और करोड़ों आत्माएं हैं ईश्वर की इच्छा के वशवर्ती है। ईश्वर

सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, निराकार विभु है और वह निरन्तर प्रकृति द्वारा क्रियाशील है। वह सम्पूर्ण प्रकृति उसी के वश में है। वही नित्य विधाता है। द्वैतवादियों का यही मत है। तब यह प्रश्न उठता है कि यदि इस सृष्टि का विधाता ईश्वर है, तो उसने इस प्रकार की दुष्ट सृष्टि की उत्पत्ति क्यों की? हमें इतना कष्ट क्यों भोगना पड़ता है? वे कहते हैं, यह ईश्वर का अपराध नहीं है। हम अपने दोष के कारण कष्ट भोगते हैं। हम जो बोते हैं, वही लूते हैं। हमें दण्ड देने का उसका अभिप्राय नहीं है। मनुष्य दरिद्र, अंधा या और कोई दोषयुक्त जन्म लेता है इसका कारण क्या है? उसने इस प्रकार के जन्म लेने के पूर्व कुछ किया था। जीव नित्य काल से रहा आया है, वह कभी उत्पन्न नहीं किया गया था। वह सर्वदा कई प्रकार के कर्म करता रहा है, हम जो कुछ करते हैं, उसकी प्रतिक्रिया हम पर होती है। अगर हम शुभ कर्म करते है, तो हमें सुख मिलेगा और अशुभ कर्म करते हैं, तो दुःख मिलेगा। इसी प्रकार जीव सुख और दुःख प्राप्त करता जाता है और भिन्न भिन्न प्रकार के सब कर्म करता जाता है।

मृत्यु के उपरान्त क्या होता है? सभी वेदान्तमतवादी स्वीकार करते हैं कि यह जीव स्वभावतः ही पवित्र है; परन्तु वे कहते हैं कि अज्ञान से इसका सच्चा स्वरूप ढँका हुआ है। जिस प्रकार अशुभ कर्मों से इसने अपने को अज्ञान के आवरण में ढाँक लिया है, उसी प्रकार शुभ कर्मों द्वारा यह अपने असली स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता

है। वह अन्तरहित है, स्वभावतः पवित्र है। प्रत्येक जीव स्वभावतः शुद्ध ही होता है।

जब शुभ कर्मों द्वारा उसके सब पापों और दुष्कर्मों का नाश हो जाता है तब जीव पुनः शुद्ध हो जाता है और इस प्रकार शुद्ध होकर वह देवयान को चला जाता है। उसकी वचनेन्द्रिय मन में प्रविष्ट हो जाती है। आप शब्दों के बिना चिन्तन नहीं कर सकते। जहाँ चिन्तन है, वहाँ शब्द होना ही चाहिये। जैसे ही शब्द मन में प्रवेश करते हैं, वैसे ही मन प्राण में परिणत हो जाता है और प्राण जीव में। तब जीव शीघ्र शरीर के बाहर निकल कर सौर प्रदेश को चला जाता है। इस विश्व में एक के बाद दूसरे अनेक लोक हैं। यह पृथ्वी भूलोक है, जिसमें चन्द्र, सूर्य और तारागण हैं। उसके परे सूर्यलोक है और उसके उस पार दूसरा लोक है, जो चन्द्रलोक कहलाता है। उसके परे विद्युल्लोक है और जब जीव वहाँ पहुँचता है, तब एक दूसरा अमानव जीव, जो पहले ही पूर्ण है, उसका स्वागत करने आता है और उसे दूसरे लोक, परमोक्ष लोक में, जिसका नाम ब्रह्मलोक है, वहाँ ले जाता है। वहाँ जीव नित्य काल निवास करता है और पुनः जन्म या मरण को प्राप्त नहीं होता। वहाँ वह अनन्त काल तक आनंद भोगता है और केवल सृष्टि-उत्पादन शक्ति को छोड़कर सब प्रकार की शक्तियाँ प्राप्त करता है। विश्व का केवल एक ही विधाता है और वह है ईश्वर। कोई भी ईश्वर नहीं बन सकता; द्वैतवादियों की धारणा है कि

यदि तुम कहते हो कि तुम ईश्वर हो, तो यह ईश्वर की घोर निंदा है। उत्पत्ति करने की शक्ति के सिवाय अन्य सभी शक्तियाँ जीव को प्राप्त हो जाती हैं और यदि जीव शरीर धारण करके संसार के विभिन्न भागों में कार्य करना चाहे, तो कर सकता है। यदि वह जीव सभी देवताओं को अपने सम्मुख उपस्थित होने की आज्ञा दे अगर वह अपने पूर्वजों को, बुलाना चाहे, तो वे सभी उसकी आज्ञा के अनुसार आ जाते हैं। उसकी शक्तियाँ ऐसी रहती हैं कि उसे अब कोई दुःख नहीं होता और यदि वह चाहे तो अनन्त काल ब्रह्मलोक में निवास कर सकता है। यही वह उच्च-गति-प्राप्त पुरुष है, जो ईश्वर के प्रेम को प्राप्त कर चुका है, जो पूर्णतः निःस्वार्थ, पूर्णतः शुद्ध बन गया है, जिसने अपनी समस्त वासनाओं का परित्याग कर दिया है और जो ईश्वर की पूजा और उसके प्रति अनुराग करने के सिवाय और कुछ नहीं करना चाहता। दूसरे और भी ऐसे हैं, जो इतनी उच्च अवस्था को नहीं पहुँचे हैं; जो सत्कार्य करते हैं, परन्तु बदले में कुछ पाना चाहते हैं। वे कहते हैं कि गरीबों को वे इतना दान करेंगे, पर बदले में वे स्वर्ग को जाना चाहते हैं। जब वे मरते हैं, तो उनकी कौन सी गति होती है? वाचा-शक्ति मन में प्रविष्ट हो जाती है, मन प्राण में और प्राण जीव में प्रवेश करता है। जीव निकल कर चन्द्रलोक को जाता है और वहाँ वह दीर्घकाल तक बहुत सुख में रहता है। जब तक उसके पुण्य कर्मों का प्रभाव बना रहता है, तब तक वहाँ वह

सुख भोगता है, और जब पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है, तब वह पुनः नीचे उतरता है और इस पृथ्वी पर अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। चन्द्रलोक में जीव उस अवस्था को पहुँच जाता है, जिसे हम 'देवता' कहते हैं तथा ईसाई और मुसलमान देवदूत कहते हैं। ये 'देव' कुछ विशिष्ट पदों के नाम हैं। उदाहरणार्थ, इन्द्र--देवताओं का राजा—एक पद का नाम है, सहस्रों मनुष्य उस पद को प्राप्त करते हैं। जब कोई पुण्यशील पुरुष, जिसने सर्वश्रेष्ठ वैदिक कर्मों का अनुष्ठान कर लिया है, मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह देवताओं का राजा बन जाता है। उस समय तक पुराना इन्द्र नीचे उतरकर मनुष्य बन गया रहता है। जैसे यहाँ राजा बदलते रहते हैं उसी प्रकार देवताओं को भी मरना पड़ता है। स्वर्ग में सभी मरेंगे। मृत्युरहित स्थान एक ब्रह्मलोक ही है, जहाँ न जन्म है और न मृत्यु। इस प्रकार जीव स्वर्ग को जाते हैं तथा जिस समय वहाँ दैत्य लोग उनका पीछा करते हैं, उस समय को छोड़कर शेष समय वे सुखपूर्वक रहते हैं। हमारी पौराणिक कथाओं में ऐसे दैत्यों का वर्णन है, जो कभी कभी देवगणों को सताते हैं। सभी पुराणों में पढ़ते हैं कि ये दैत्य और देव किस प्रकार लड़े, दैत्यों ने कभी-कभी देवों पर विजय प्राप्त की, यद्यपि कई बार ऐसा दिखता है कि दैत्यों ने इतने क्रूर कर्म नहीं किये, जितने कि देवों ने। उदाहरणार्थ, सभी पुराणों में देवता स्त्रीलम्पट पाये जाते हैं। इस प्रकार जब उनके पुण्य का फल समाप्त

हो जाता है, तब वे पुनः नीचे गिरते हैं। मेघों के मार्ग से वृष्टि के द्वारा आकर किसी अन्न या पौधे में वे प्रविष्ट हो जाते हैं और जब मनुष्य उस अन्न या पौधे को खाता है, तब उसके शरीर में पहुँच जाते हैं। पिता उन्हें वह भौतिक सामग्री देता है, जिसमें से वे अपने कर्मों के उपयुक्त शरीर धारण कर लें। जब वह शरीर उनके लायक नहीं रह जाता तब उन्हें अपने लिये अन्य शरीर निर्माण करना पड़ता है। अब हम यहाँ बहुत से दुष्ट लोग देखते हैं, जो सभी तरह के राक्षसी कर्म करते हैं। वे फिर पशु होकर जन्म लेते हैं और यदि वे बहुत बुरे हैं, तो वे अति नीच पशु का जन्म लेते हैं या पेड़-पत्थर बन जाते हैं।

देव-योनि में वे कुछ भी कर्म नहीं करते; केवल मनुष्य योनि ही कर्म-योनि है। कर्म का अर्थ है ऐसा काम जिसका कोई फल हो। जब मनुष्य मरता है और देव बन जाता है, तब तो उसका समय केवल सुख भोगने का ही रहता है और उस समय वह नये कर्म नहीं करता। वह तो उसके पूर्व-कृत शुभ कर्मों का पारितोषिक है; वह केवल भोग-योनि ही है। जब पुण्य कर्मों का क्षय हो जाता है, तब अवशिष्ट कर्मों का फल मिलना प्रारम्भ होता है और तब वह नीचे पृथ्वी पर उतरता है और पुनः मनुष्य बन जाता है। यदि वह बहुत अच्छे कर्म करता है और शुद्ध हो जाता है, तो वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर पुनः यहाँ नहीं लौटता।

नीच योनियों से विकास प्राप्त करते समय जीव कुछ काल तक पशु-योनि में रहता है, और समय पाकर पशु मनुष्य बन जाता है। जैसे जैसे मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है, वैसे ही वैसे पशुओं की घट रही है यह बात सार्थक है। पशु-आत्माएँ सब मनुष्य बन रही हैं। पशुओं के बहुतेरे वर्ग पहले ही मनुष्य बन चुके हैं; अन्यथा वे कहाँ चले गये!

वेदों में नरक की कोई चर्चा नहीं है, पर हमारे पुराणों में, जो धर्म में उनके बाद के ग्रंथ हैं, यह विचार आया कि नरकों का सम्बन्ध जोड़े बिना कोई धर्म सर्वांगीण नहीं हो सकता। अतः सभी प्रकार के नरकों की कल्पना की गई। इन नरकों में से कुछ में तो मनुष्यों को चीरकर उनके दो टुकड़े कर दिये जाते हैं और उन्हें कुचल कुचल कर कष्ट दिया जाता है, तो भी वे नहीं मरते। वहाँ उनको लगातार अत्यन्त दुःख पहुँचाया जाता है, पर ये ग्रंथ इतना कहने की दया तो करते हैं कि यह सब केवल कुछ काल के लिये ही रहता है। उस अवस्था में दुष्कर्मों का फल भोग लिया जाता है और भोग पूर्ण होने पर पुनः पृथ्वी पर आकर नया अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार यह मनुष्य शरीर महान् अवसर है। यह शरीर कर्मयोनि कहलाता है जहाँ हम अपने भाग्य का निर्णय करते हैं। हम एक महान् वृत्त में दौड़ रहे हैं और उस वृत्त में यही एक बिन्दु है, जो हमारे भविष्य का निर्णायक है। अतः यह मनुष्य-शरीर ही सबसे बढ़कर समझा जाता है; मनुष्य देवों से भी बढ़कर है।

यहाँ तक हुआ शुद्ध और सरल द्वैतवाद। इसके पश्चात् उच्च-तर वेदान्त तत्त्वज्ञान सामने आता है। उसका कहना है कि ऐसा नहीं हो सकता। इस विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ईश्वर ही है। यदि आप कहते हैं कि ईश्वर एक अनन्त व्यक्ति है, जीवात्मा भी अनन्त है और प्रकृति भी अनन्त है, तब आप इन अनन्तों की संख्या अमर्याद बढ़ा रहे हैं। यह तो बिलकुल असम्भव बात है। आप तर्कशास्त्र का विध्वंस कर रहे हैं। अतः ईश्वर ही इस विश्व का उपादान तथा निमित्त दोनों प्रकार का कारण है। वह इस विश्व को अपने में से ही बाहर प्रकट करता है। तब यह कैसी बात है कि ईश्वर ही ये दीवालें और यह मेज़ बन गया है, ईश्वर ही शूकर, हत्यारा और जो कुछ इस संसार में नीच तथा क्षुद्र वस्तुएँ हैं, वह सब बन गया है। हम तो कहते हैं कि ईश्वर पवित्र है। तब वह इन सब नीच वस्तुओं के रूप में अधःपतित कैसे हो सकता है? हमारा उत्तर यह है कि ठीक वैसे ही जैसे हम आत्मा हैं और हमारा शरीर है, और एक दृष्टि से तो यह शरीर मुझसे भिन्न नहीं है, तो भी मैं—सच्चा मैं—यथार्थ में शरीर नहीं हूँ। उदाहरणार्थ—मैं कहता हूँ मैं बालक हूँ, युवक हूँ या वृद्ध हूँ, पर मेरी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। आत्मा तो वही बनी रहती है। उसी प्रकार समस्त विश्व—जिसमें सम्पूर्ण प्रकृति और असंख्य आत्माएँ हैं—मानो ईश्वर का अनन्त शरीर है। वह उस सम्पूर्ण विश्व में ओतप्रोत है। वही अकेला अपरिवर्तनशील है, पर प्रकृति तो बदलती रहती है

और आत्माएँ भी। प्रकृति और जीवात्मा के परिवर्तन का उस ईश्वर पर कोई परिणाम नहीं होता। प्रकृति किस प्रकार बदलती है? अपने रूपों में; वह नये नये रूप धारण करती है। पर आत्मा उस तरह नहीं बदलती। आत्मा ज्ञान की न्यूनाधिकता से ही घटती और बढ़ती है। दुष्कर्मों से आत्मा संकुचित हो जाती है। ऐसे कर्म जो यथार्थ में स्वाभाविक ज्ञान को तथा आत्मा की पवित्रता को घटाते हैं दुष्कर्म कहे जाते हैं। पुनश्च ऐसे कर्म जो आत्मा की स्वाभाविक महिमा को प्रकट करते हैं, सत्कर्म कहे जाते हैं। ये सभी आत्माएँ शुद्ध थीं पर वे संकुचित हो गई हैं; ईश्वर की दया से और सत्कर्म करने से वे पुनः विकसित होकर अपनी सहज शुद्धता को प्राप्त कर लेंगी। हरएक को वह अवसर प्राप्त है और अन्त में प्रत्येक का उद्धार होना निश्चित है, पर इस विश्व का अन्त नहीं होगा; क्योंकि वह तो अनन्त है। यह दूसरा मत है। पहला मत द्वैतवाद कहा जाता है। दूसरे मत में यह धारणा है कि ईश्वर, आत्मा और प्रकृति हैं, तथा आत्मा और प्रकृति ईश्वर के शरीर हैं और इसी कारण ये तीनों मिलकर एक ही सत्ता है। इससे आध्यात्मिक विकास की उच्चतर अवस्था सूचित होती है और इसका नाम है 'विशिष्टाद्वैत'। द्वैतवाद में विश्व ईश्वर-संचालित एक बड़ा यंत्र माना गया है और विशिष्टाद्वैत में वह एक ऐसा शरीर माना गया है, जिसके अन्तर में परमात्मा प्रविष्ट है।

सबसे अन्त में अद्वैतवादी हैं। वे भी यह प्रश्न उठाते हैं कि ईश्वर ही इस विश्व का उपादान कारण तथा निमित्त कारण दोनों ही होना चाहिये। ऐसा होने पर तो, ईश्वर ही यह सम्पूर्ण विश्व बन गया है और यह अस्वीकार करने की कोई भी गुंजाइश नहीं है। जब ये दूसरे लोग कहते हैं कि ईश्वर आत्मा है और विश्व उसका शरीर है और शरीर परिवर्तनशील है, पर ईश्वर में परिवर्तन नहीं होता तो ये सब बातें अद्वैतवादी के मत में निरी अज्ञता है, क्योंकि यदि वैसा ही हो, तो फिर ईश्वर को इस विश्व का उपादान कारण कहने का क्या अर्थ है? उपादान कारण तो यह है कि कारण ही कार्य बन जाता है; कार्य और कुछ नहीं होता, वह तो कारण का ही दूसरा रूप है। जहाँ कहीं तुम्हें कार्य दिखाई देता है, वह कारण की ही पुनरावृत्ति है। अगर विश्व कार्य है और ईश्वर कारण है तो वह विश्व ईश्वर की ही पुनरावृत्ति होनी चाहिये। यदि तुम कहो कि यह विश्व ईश्वर का शरीर है और शरीर संकुचित होकर सूक्ष्म होता है और कारण बन जाता है और उसी में से इस विश्व का विकास होता है तो अद्वैतवादी कहते हैं कि स्वयं ईश्वर ही यह विश्व बन गया है। अब यहाँ एक बहुत सूक्ष्म प्रश्न उठता है। यदि यह ईश्वर ही यह विश्व बन गया है तो तुम और ये सभी चीज़ें ईश्वर हैं। हाँ, यथार्थ में वैसा ही है। यह पुस्तक ईश्वर है, प्रत्येक वस्तु ईश्वर है। मेरा शरीर ईश्वर है और मेरा मन ईश्वर है और मेरी आत्मा ईश्वर है। तब फिर जीवों का यह नानात्व क्यों है? क्या ईश्वर

करोड़ों जीवों में बँट गया है ? क्या वह एक ईश्वर करोड़ों जीवों के रूप में दिखाई देता है ! तब यह फिर कैसे हुआ ? वह अनन्त शक्ति और सत्ता, वह एकमेव विश्वात्मा विभाजित कैसे हो गयी ? अनन्त के खण्ड करना असम्भव है। वह विशुद्ध चिदात्मा इस विश्व में कैसे परिणत हो सकता है ? यदि वह विश्व में परिणत हो गया है, तब तो वह ईश्वर परिवर्तनशील है। यदि वह परिवर्तनशील है, तो वह प्रकृति का अंश है और जो कुछ भी प्रकृति है और परिवर्तनशील है, वह तो जन्म लेता और मरता है। यदि हमारा ईश्वर परिवर्तनशील है, तो वह एक दिन अवश्य मरेगा—इस बात को ध्यान में रखिये। पुनश्च, ईश्वर का कितना अंश यह विश्व बन गया है ? यदि आप कहें 'क्ष' (बीजगणित का अज्ञात-परिमाण) तब तो ईश्वर अब 'ईश्वर ऋण क्ष' है और इसीलिये वह वही ईश्वर नहीं है जैसा कि इस सृष्टि के पूर्व था, क्योंकि उतना ईश्वर यह सृष्टि बन गया है। अतः अद्वैत-वादी कहते हैं—"इस विश्व का कोई निरपेक्ष अस्तित्व ही नहीं है, यह सब माया, मिथ्या है। यह सम्पूर्ण विश्व, ये देवगण, देवता, देवदूत और अन्य सब व्यक्ति जन्म लेने वाले और मरने वाले, ये सब असंख्य आत्माएँ जो उन्नत और अवनत होती जाती हैं सभी स्वप्नमय हैं।" 'जीव' नामक कोई वस्तु है ही नहीं। नानात्व कैसे हो सकता है ? है केवल एक अद्वितीय अनन्त सत्ता ही। जैसे एक ही सूर्य विभिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होकर अनेक भासता है और जल के करोड़ों बुलबुले करोड़ों सूर्य का प्रतिबिम्ब

प्रकट करते हैं और प्रत्येक बुलबुले में सूर्य का पूर्ण प्रतिबिम्ब रहता है तथापि वास्तव में सूर्य तो एक ही है। इसी प्रकार ये सब जीव भिन्न भिन्न मनों में प्रतिबिम्ब ही हैं। ये भिन्न भिन्न मन अनेकों बुलबुलों के समान उसी एक आत्मा को प्रतिबिम्बित करते हैं। ईश्वर इन सब भिन्न भिन्न जीवों में प्रतिबिम्बित हो रहा है। पर स्वप्न तो सत्य वस्तु के बिना नहीं हो सकता और वह सत्य वस्तु वही एक अनंत सत्ता है। तुम शरीर, मन या जीवात्मा के रूपों में तो स्वप्नमय हो, पर यथार्थ में तुम तो वही सत् चित् और आनंद हो। तुम इस विश्व के ईश्वर हो। तुम सम्पूर्ण विश्व को उत्पन्न कर रहे हो और अपने में लय कर रहे हो—अद्वैतवादियों का यही सिद्धान्त है। अतः ये सब जन्म और पुनर्जन्म, आना और जाना, सभी माया के दृश्य हैं। तुम अनंत हो। तुम कहाँ जा सकते हो? सूर्य, चंद्र और समस्त विश्व तुम्हारे निर्विकल्प स्वरूप-सागर के केवल बिंदुमात्र हैं। तुम्हारा जन्म और मरण कैसे हो सकता है? मैं कभी जन्म नहीं लिया, कभी न लूँगा, मेरे न कभी पिता थे, न माता ही, न मित्र, न शत्रु; क्योंकि मैं तो सत् चित् आनन्द स्वरूप हूँ। सोऽहम् सोऽहम्।

तब इस दार्शनिक मत के अनुसार आन्तिम ध्येय क्या है? वह यही है कि जो यह ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे विश्व के साथ एक हो जाते हैं। उनके लिये सभी स्वर्ग और ब्रह्मलोक भी विनष्ट हो जाते हैं, सारा स्वप्न दूर हो जाता है और वे अपने को विश्व का

अनादि अनंत ईश्वर पाते हैं। वे अपने यथार्थ व्यक्तित्व को उसके अनंत ज्ञान और आनंद के साथ प्राप्त करके मुक्त हो जाते हैं। क्षुद्र वस्तुओं के सुख का अन्त आ जाता है। हम इस छोटे से शरीर और क्षुद्र व्यक्तित्व में ही आनंद मानते हैं। वह आनंद कितना अधिक होगा, जब कि यह समस्त विश्व मेरा शरीर है! यदि एक शरीर में सुख है तो जब सभी शरीर मेरे हैं तो कितना अधिक सुख होगा! तब तो मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यही अद्वैत वेदान्त का चरम सिद्धान्त है।

वेदान्त दर्शन-शास्त्र ने ये ही तीन श्रेणियाँ निर्धारित की हैं और हम उससे आगे नहीं बढ़ सकते; क्योंकि हम एकत्व के परे कैसे जा सकते हैं। जब कोई विज्ञान-शास्त्र एकत्व तक पहुँच जाता है, तब वह किसी भी प्रकार के उपाय से और आगे नहीं बढ़ सकता। इस निरपेक्ष सत्ता या तुरीय के परे आप जा नहीं सकते।

इस अद्वैत दर्शन-शास्त्र को सभी मनुष्य ग्रहण नहीं कर सकते। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। सबसे पहले तो वह बुद्धि द्वारा समझने के लिये बहुत कठिन है। उसके लिये अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि चाहिये, साहस चाहिये। दूसरी बात यह है कि वह अधिकांश जनसमुदाय के अनुकूल नहीं है। अतः यही तीन श्रेणियाँ हैं। प्रथम श्रेणी से आरम्भ करो। तब तो उसको अच्छी तरह सोच विचार कर समझ लेने पर द्वितीय श्रेणी आप से आप खुल जायगी। जैसे एक

जाति आगे बढ़ती है वैसे ही व्यक्ति को भी आगे बढ़ना पड़ता है। धार्मिक विचार के अत्युच्च शिखरों तक पहुँचने में मानव-जाति ने जिन क्रमों को ग्रहण किया वही क्रम प्रत्येक व्यक्ति को ग्रहण करना होगा। अन्तर यही है कि जहाँ मानव जाति को एक श्रेणी से दूसरी श्रेणी में पहुँचने के लिये लाखों वर्ष लगे हैं, वहाँ व्यक्तियाँ उससे बहुत स्वल्प अवधि में मानव जाति का सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर लेंगी। परन्तु हम में से प्रत्येक को इन श्रेणियों में से होकर जाना होगा। आप में से जो अद्वैतवादी हैं, वे अपने जीवन के उस काल की ओर लौट कर देखिये जब कि आप कट्टर द्वैतवादी थे। ज्योंही आप सोचते हैं आप शरीर और मन हैं, त्योंही आपको यह सम्पूर्ण स्वप्न ग्रहण करना होगा। यदि आप उसके एक अंश को ग्रहण करते हैं, तो आपको उसे सम्पूर्ण रूप से ग्रहण करना होगा। जो मनुष्य कहता है कि यहाँ यह संसार है और ईश्वर (कोई व्यक्ति) नहीं है, वह मूर्ख है; क्योंकि यदि सृष्टि है, तो उसका कारण तो रहेगा ही और वही कारण तो 'ईश्वर' कहलाता है। कारण है यह बिना जाने आप कार्य को तो नहीं पा सकते। ईश्वर तभी विलुप्त हो सकता है, जब इस संसार का लोप हो जाय। तब आप ईश्वर (परब्रह्म) हो जायँगे और आप के लिये यह संसार तत्पश्चात् रहेगा ही नहीं। जब तक आप शरीर हैं यह स्वप्न बना हुआ है, तब तक आप अपनेको जन्म लेने वाला और मरने वाला ही पाएंगे। पर ज्योंही वह स्वप्न भंग हो जायगा, त्योंही यह स्वप्न भी

भंग हो जायगा कि आप जन्म लेते हैं और मरते हैं और वैसे ही वह दूसरा स्वप्न भी, कि यह विश्व अस्तित्व में है, भंग हो जायगा। वही वस्तु जो अभी हमें विश्व दीख रही है, ईश्वर (परब्रह्म) दिखाई देगी और वही ईश्वर जो इतने दीर्घकाल तक बाह्य वस्तु प्रतीत होता था, वह अब अन्तःस्थ, अपनी स्वयं आत्मा ही प्रतीत होगा।

---

५. हिन्दू धर्म और उसके चार योग

मानव जाति के अधिक से अधिक अंश को सन्तुष्ट करने के लिये धर्म का स्वरूप ऐसा होना चाहिये कि वह इन विभिन्न प्रकार के मनों को खाद्य-सामग्री प्रदान कर सके; और वे सभी वर्तमान पंथ, जिनमें ऐसी योग्यता का अभाव है एकदेशीय हो जाते हैं। मान लीजिये कि आप एक ऐसे पंथवाले के पास गये जिसमें प्रेम और भाव का उपदेश दिया जाता है। वे गाते हैं, रोते हैं और प्रेम का उपदेश देते हैं। पर ज्योंही आप कहते हैं, "मित्रवर, यह सब तो ठीक है; पर मुझे तो इससे कोई अधिक प्रबल वस्तु चाहिये; कुछ थोड़ा तर्क और तत्वज्ञान हो; मैं सब बातों को क्रमशः और कुछ युक्तिपूर्वक समझना चाहता हूँ" तो वे कहते हैं—"चले जाओ।" और वे आपको चले जाने के लिये ही नहीं कहेंगे, पर यदि उनके वश की बात हो, तो वे आपको दूसरी जगह भेज देंगे। परिणाम यही होता है कि वे पंथवाले केवल भावनाप्रधान लोगों को सहायता दे सकते हैं और इतना ही नहीं कि वे अन्य लोगों को सहायता नहीं देते, वरन् उनको नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। सबसे बढ़कर दुष्टता तो यह है कि वे दूसरों को सहायता तो देंगे ही नहीं, पर साथ ही उनकी आन्तरिकता में भी विश्वास नहीं करेंगे। पुनश्च ऐसे तत्वज्ञानी भी हैं जो भारत का और पूर्वीय देशों के ज्ञान का बखान करेंगे और बड़े बड़े पचास पचास अक्षरों के

दार्शनिक शब्दों का उपयोग करेंगे, पर जब उनके पास मुझ जैसा साधारण मनुष्य जाकर पूछेगा, "क्या आप मुझे आध्यात्मिक बनाने की कोई बात बता सकते हैं?" तब सबसे पहले तो मुस्करा कर यह कहेंगे, "तुम हमसे बुद्धि में बहुत कम हो; तुम आध्यात्मिकता के विषय में क्या समझोगे?" ये लोग बहुत 'ऊँचे' तत्वज्ञानी हैं! ये आपको केवल दरवाजा दिखाते हैं। पुनः कई योग-पंथ हैं जो जीवन के कई स्तरों (Planes), मन की कई अवस्थाओं के सम्बन्ध में, मानसिक शक्ति द्वारा क्या क्या किया जा सकता है आदि आदि बहुतेरी बातें बताते हैं और यदि आप साधारण मनुष्य हैं और उनसे पूछते हैं, "कोई अच्छा काम बताइये जिसे मैं कर सकूँ। मैं बहुत पूर्वापर सोचना नहीं जानता। कोई ऐसी वस्तु दे सकते हैं, जिसके मैं लायक हूँ?" वे हँसकर कहेंगे, "सुनो इस मूर्ख की बात; जानता यह कुछ नहीं; इसका जीवन व्यर्थ है।" और यही बात संसार में सर्वत्र प्रचलित है। मेरे मन में तो यही आता है कि इन सभी विभिन्न पंथों के कट्टर उपदेशकों को एकत्र करके एक कोठरी में बंद कर दूँ और उनकी सुंदर तिरस्कारयुक्त हँसी का छायाचित्र उतार लूँ!

धर्म की वर्तमान अवस्था, प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति ऐसी ही है। मैं जिसका प्रचार करना चाहता हूँ, वह ऐसा धर्म है, जिसे सभी प्रकार के मन एक समान ग्रहण कर सकें। वह दार्शनिक हो, उतना ही भावात्मक हो, बराबर यौगिक हो और उतना ही कर्म की

ओर प्रेरणा करने वाला हो। यदि कालेज के अध्यापकगण, वैज्ञानिक और भौतिक शास्त्रवेत्ता पहुँचेंगे, तो वे तो बुद्धिवाद चाहेंगे। जी भरकर उन्हें वही ले लेने दो। एक ऐसी अवस्था आएगी जब वे सोचेंगे कि वे उसके परे, बुद्धि के बांध को तोड़े बिना नहीं जा सकते। वे कहेंगे, "ईश्वर और मुक्ति के सम्बन्ध के ये विचार मिथ्या कल्पनाएँ हैं; इन्हें छोड़ो।" मैं कहता हूँ, "दर्शनशास्त्रीजी, आपका यह शरीर तो उससे बढ़कर मिथ्या कल्पना है, उसी को आप छोड़ दीजिये। भोजन के लिये घर जाना या दर्शनशास्त्र पढ़ाने जाना बंद कर दीजिये। शरीर को त्याग दीजिये और यदि वैसा नहीं कर सकते, तो चिल्लाना छोड़कर चुपचाप बैठ जाइये।" क्योंकि धर्म का कार्य है कि 'यह सृष्टि एक है', 'विश्व में केवल एक ही सत्ता है' ऐसी शिक्षा देने वाले दार्शनिक सिद्धान्त का प्रत्यक्ष अनुभव करने का मार्ग दिखाये। उसी प्रकार जब राजयोगी आये, तब उसका भी हमें स्वागत करना चाहिये। उसे मनोविश्लेषण शास्त्र का पाठ पढ़ाने के लिये और उसके सामने तदनुसार प्रत्यक्ष प्रयोग करके दिखाने के लिये तैयार रहना चाहिये। यदि भावना-प्रधान मनुष्य आयें, तो हमें उनके साथ बैठकर ईश्वर का नाम लेकर हँसना और रोना चाहिये और "प्रेम का प्याला पीकर पागल बन जाना चाहिये।" यदि उत्साही कार्यकर्ता आ जाय तो हमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर उसके साथ कर्म करना चाहिये। इस प्रकार का संयोग प्राप्त होने पर हम सार्वभौमिक धर्म के आदर्श के अत्यन्त निकट पहुँच जायँगे। ईश्वर सभी मनुष्यों को इस प्रकार बनाये कि उनके चित्त में ज्ञान, भक्ति, योग तथा कर्म

का भाव पूर्ण मात्रा में और समान रूप में वर्तमान हों। यही आदर्श है। पूर्ण मनुष्य का मेरा आदर्श यही है। जिनके स्वभाव में इनमें से केवल एक या दो ही तत्व विद्यमान हों उन्हें मैं "एकांगी" समझता हूँ और संसार प्रायः ऐसे ही एकांगी व्यक्तियों से भरा है। वे जिस मार्ग में चलते हैं, उस एक ही मार्ग का उन्हें ज्ञान है और अन्य मार्गों को वे भयंकर और बीभत्स समझते हैं। इन सभी चारों मार्गों का समतोल संयोग रहे—यही धर्म का 'मेरा' आदर्श है। और इस धर्म की प्राप्ति जिसे हम भारत में 'योग' कहते हैं, उसके द्वारा होती है। कर्मी के लिये इस 'योग' का अर्थ है व्यष्टि और समष्टि की एकता या अभेद। राजयोगी के लिये 'योग' का अर्थ है जीवात्मा तथा परमात्मा की एकता या अभेद। भक्त के लिये अपनी और अपने प्रेमास्पद ईश्वर की अभिन्नता ही 'योग' है; और ज्ञानी के लिये 'योग' का अर्थ है अस्तित्व मात्र का ऐक्य। 'योग' का यही अर्थ है। योग संस्कृत शब्द है और इसके इन चार विभागों के संस्कृत में भिन्न-भिन्न नाम हैं। इस प्रकार की एकता के लिये प्रयत्नशील मनुष्य 'योगी' कहलाता है। कर्म करने वाला कर्मयोगी कहलाता है। प्रेम के मार्ग से जो योग प्राप्त करना चाहता है, वह भक्तियोगी है; राजयोग से जो उसे खोजता है, वह राजयोगी है; और जो ज्ञानमार्ग से उसका शोध करता है, वह ज्ञानयोगी कहलाता है। इस प्रकार योगी शब्द में सभी का समावेश होता है।

अब मैं सब से पहले राजयोग को लेता हूँ। यह राजयोग—मन का यह संयमन—क्या है? आपके इस देश में योग शब्द के

साथ सभी प्रकार के भूतप्रेत-साधनों को भी जोड़ दिया करते हैं। अतः मैं सबसे पहले यही बता देना उचित समझता हूँ कि योग से और इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन योगों में से एक में भी बुद्धि का त्याग नहीं करना पड़ता, इनमें से किसी में भी आँखें बंद करके ठगाने के लिये या अपनी तर्कशक्ति को किसी भी प्रकार के पण्डे-पुरोहितों को सौंप देने के लिये नहीं कहा गया है। इनमें से एक भी यह नहीं सिखाता कि तुम किसी को अलौकिक देवदूत मानकर उसके भक्त बन जाओ। इनमें से प्रत्येक योग बुद्धि के मार्ग पर दृढ़ रहने की, उसे ही दृढता से ग्रहण किये रहने की शिक्षा देता है। हम प्रत्येक प्राणी में ज्ञान के तीन साधन पाते हैं। प्रथम है स्वाभाविक बुद्धि या प्रवृत्ति—जो पशुओं में सबसे अधिक बढ़ी हुई रहा करती है—यह ज्ञान का अत्यन्त निम्न श्रेणी का साधन है। ज्ञान का द्वितीय साधन क्या है? वह है तर्कशक्ति। वह मनुष्य में सबसे अधिक स्वरूप में मिलेगी। अब प्रथम तो स्वाभाविक बुद्धि अपर्याप्त साधन है। पशुओं का कार्य-क्षेत्र बहुत मर्यादित हुआ करता है और उसी मर्यादा के भीतर स्वाभाविक प्रवृत्ति काम करती है। जब हम मनुष्य की ओर आते हैं, तो हम उसे तर्कशक्ति में विकसित हुई पाते हैं। कार्य का क्षेत्र भी यहाँ विस्तृत हो गया है। तथापि तर्कशक्ति भी अत्यन्त अपर्याप्त है। तर्कशक्ति केवल थोड़ी दूर तक जाकर वहीं ठहर जाती है और आगे बढ़ नहीं सकती। यदि हम उसे ढकेलने का प्रयत्न करें तो असहाय विभ्रान्ति की स्थिति हो

जाती है और तर्क स्वविरुद्ध हो जाता है, तर्कयुक्तियाँ स्वयं चक्कर खाने लगती हैं। उदाहरण के लिये हमारे अनुभव के मुख्य आधार जड़ और शक्ति को ही ले लीजिये। जड़ क्या है। वह, जिस पर शक्ति अपना कार्य करती है। और शक्ति क्या है?–जो जड़ पर कार्य करती है। देखी आपने उलझन, इसे ही तर्कशास्त्री—अन्योन्याश्रय कहते हैं। एक विचार दूसरे पर अवलम्बित है और यह दूसरा विचार पुनः प्रथम विचार पर ही अवलम्बित है। तर्कशक्ति के सामने बड़ी जबर्दस्त रुकावट खड़ी हो गई और अब वह उसके उस पार जा ही नहीं सकती; फिर भी वह उसके परे अनंत के प्रदेश में प्रवेश करने के लिये आतुर है। यह जगत्, यह विश्व जिसका अनुभव हमारी इन्द्रियाँ किया करती हैं, या जिसके विषय में हमारा मन विचार करता है, वह तो मानो उस अनंत का केवल एक अंश मात्र है, जो बोधगम्य स्वरूप में प्रकट हुआ है; और उस संकीर्ण मर्यादा के भीतर ही, बोध के इस सीमा-बद्ध क्षेत्र में ही हमारी तर्कशक्ति या बुद्धि काम करती है, उसके परे कदापि नहीं। अतः हमें उसके परे ले जाने के लिये कोई दूसरा साधन होना चाहिये और उस साधन को अपरोक्ष अनुभव (Intuition) कहते हैं। इस प्रकार सहज प्रवृत्ति, तर्क और अप-रोक्ष अनुभव ये तीन ही ज्ञान के साधन हैं। स्वाभाविक प्रवृत्ति तो पशुओं का साधन है, तर्कशक्ति मनुष्य का और अपरोक्ष अनुभव देव-मानवों का। पर सभी मनुष्यों में अधिक या अल्प विकसित अवस्था में इन तीनों ज्ञानसाधनों के अंकुर पाये ही जाते हैं। इन मानसिक साधनों को सुविकसित होने के लिये इनके अंकुर तो वहाँ

होने ही चाहिये। यह भी स्मरण रखना है कि एक साधन दूसरे साधन का विकसित रूप है और इसी कारण वे एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। तर्कशक्ति विकसित होकर अपरोक्ष अनुभव बनती है और इसीलिये वह तर्कशक्ति का विरोध नहीं करता वरन् उसे पूर्ण करता है। जिन सत्यों तक बुद्धि नहीं पहुँच पाती वे अपरोक्ष अनुभव से प्रकाशित या प्रकट होते हैं और वे बुद्धि का विरोध नहीं करते। वृद्धावस्था बाल्यावस्था का विरोध नहीं करती, वह तो उसे पूर्ण बनाती है। इसीलिये सदा ध्यान रखिये कि निम्न श्रेणी के साधन को उच्च श्रेणी के साधन मानने का प्रमाद करके भारी विपत्ति में न पड़ जायँ। बहुधा स्वाभाविक प्रवृत्ति अपरोक्ष अनुभव के नाम से संसार के सामने ला दी जाती है और तब भविष्य वाणी करने की ईश्वरदत्त शक्ति का झूठा दावा किया जाता है। कोई मूर्ख या अर्ध विक्षिप्त यही सोचता है कि उसके मस्तिष्क में होनेवाली गड़बड़ी ही अपरोक्ष अनुभव है और वह चाहता है कि लोग उसका अनुसरण करें। अत्यन्त परस्पर विरोधी तर्कहीन निरर्थक बातें, जिनका उपदेश संसार में दिया गया है, केवल पागलों के विभ्रान्त मस्तिष्क से निकले हुये बुद्धिहीन गपशप मात्र हैं, जिन्हें अपरोक्ष अनुभव के शब्दों का स्वांग देकर प्रचलित करने का प्रयत्न किया जाता है।

सच्चे उपदेश की पहली कसौटी यह है कि वह उपदेश तर्क के विपरीत न हो। आप देख सकते हैं कि इन सभी योगों का

आधार उसी प्रकार का है। हम राजयोग को लेते हैं। यह मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाला योग है। यह परमात्मा से संयोग प्राप्त करने का मनोवैज्ञानिक मार्ग है। यह विस्तृत विषय है और मैं आपके सम्मुख यहाँ इस योग के केन्द्रीय विचार की ओर ही निर्देश कर सकता हूँ। हमारे पास ज्ञान-प्राप्ति की केवल एक रीति है। अति सामान्य मनुष्य से लेकर परमोच्च योगी तक सभी को उसी उपाय का अवलम्बन करना पड़ता है। उस उपाय को "एकाग्रता" कहते हैं। अपनी प्रयोगशाला में काम करने वाला रसायनशास्त्री अपने मन की सभी शक्तियों को एकाग्र करता है, उन्हें एक केन्द्र में लाता है और मूल द्रव्यों की ओर प्रक्षेप करता है और तभी तो उन द्रव्यों का विश्लेषण हो जाता है और इस प्रकार उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्योतिषशास्त्री ने भी अपने मन की शक्तियों को एकाग्र कर लिया है तथा उन्हें एक केन्द्र में लाया है और वह उन्हें अपने दूरबीन के द्वारा अपने उद्देशों की ओर प्रयुक्त करता है और तब तो तारागण और सौर-मण्डल सामने आते हैं और अपना रहस्य उसके पास प्रकट कर देते हैं। ऐसा ही सर्वत्र होता है। अध्यापक अपने विषय में, विद्यार्थी अपने पुस्तक में और प्रत्येक मनुष्य जो ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में है, ऐसा ही किया करता है। आप मेरी बात सुन रहे हैं और यदि मेरे शब्द आपको रुचिकर हैं, तो आपका मन उन शब्दों में एकाग्र हो जायगा; और उस समय मान लीजिये घड़ी का घंटा बज गया तो आप उसकी आवाज को

इस मनोयोग—मन की एकाग्रता—के कारण नहीं सुनेंगे। जितना ही अधिक आप अपने मन को एकाग्र कर सकेंगे उतना ही अधिक मेरी बातों को आप समझेंगे। और जितना ही अधिक मैं अपने प्रेम और शक्तियों को एकाग्र करूँगा उतने ही अधिक समुचित शब्दों में, मैं आपको जो कुछ बताना चाहता हूँ, उसे समझा सकूँगा। एकाग्रता की यह शक्ति जितनी अधिक हो उतने ही अधिक ज्ञान की प्राप्ति होगी; क्योंकि यही एक उपाय ज्ञानप्राप्ति का है। अत्यन्त नीच, जूता साफ करनेवाला भी यदि अधिक एकाग्रता धारण करे तो जूतों को और अच्छा पॉलिश कर सकता है; रसोइया एकाग्रता के साथ और भी अच्छी तरह रसोई पका सकता है। धन कमाने में, ईश्वर की पूजा करने में या और कोई काम करने में, एकाग्रता की शक्ति जितनी प्रबलतर होगी उतना ही उत्तम वह कार्य सम्पन्न हो सकेगा। यही एक पुकार है, यही एक खटखटाहट है जो प्रकृति के दरवाजों को खोलता है और प्रकाश की बाढ़ को बाहर ला देता है। यह एकाग्रता की शक्ति ही ज्ञान के कोषगृह की एकमात्र कुंजी है। राजयोग की विधि प्रायः केवल इसका ही वर्णन करती है। अपने शरीर की वर्तमान स्थिति में हम इतने अस्थिर-चित्त हैं कि मन अपनी शक्तियों को सैकड़ों प्रकार की वस्तुओं में व्यर्थ खो रहा है। ज्योंही मैं अपने विचारों को शान्त करने और मन को ज्ञान के किसी एक विषय पर एकाग्र करने का प्रयत्न करता हूँ, त्योंही मेरे मस्तिष्क में सहस्रों अनिष्ट आवेग घुस पड़ते हैं,

मन में सहस्रों विचार प्रविष्ट होने लगते हैं और उसमें गड़बड़ मचा देते हैं। इस बात को कैसे रोकना चाहिये और मन को किस प्रकार वश में करना चाहिये इसी विषय की सम्पूर्ण शिक्षा राजयोग में दी गई है।

अब कर्मयोग को लीजिये जिसमें कर्म करके ईश्वर की प्राप्ति की जाती है। यह तो स्पष्ट है कि समाज में कई मनुष्य ऐसे रहते हैं, जिन्होंने मानो किसी न किसी प्रकार के कर्म करने के लिये ही जन्म लिया है, जिनके मन केवल विचार के क्षेत्र में एकाग्र नहीं किये जा सकते, और जिनका दृश्य और ठोस कार्य का रूप धारण करने वाला ही एक विचार हुआ करता है। इस प्रकार के जीवन के लिये भी एक शास्त्र होना चाहिये। हममें से प्रत्येक किसी न किसी कार्य में लगा है, पर उनमें से अधिकांश अपनी शक्तियों का अधिक-तर भाग व्यर्थ खो देते हैं; क्योंकि हम कर्म के रहस्य को नहीं जानते। कर्मयोग इस रहस्य को समझाता है और कहाँ और कैसे काम करना चाहिये, सिखाता है। हमारे सामने जो कार्य हैं उनमें अपनी शक्तियों के सबसे अधिक भाग का उपयोग अत्यन्त लाभदायक रीति से किस प्रकार किया जा सकता है यह भी कर्मयोग में सिखाया जाता है। पर इस रहस्य के साथ साथ हमें कर्म के विरुद्ध होनेवाले उस बड़े आक्षेप पर भी, कि कर्म के कारण दुःख होता है विचार करना चाहिये। सभी दुःख और कष्ट आसक्ति से उत्पन्न हुआ करते हैं। मैं कर्म करना चाहता हूँ, मैं किसी मनुष्य की भलाई करना चाहता हूँ, और यह बात ९९ प्रतिशत सम्भव है कि वह मनुष्य, जिसकी मैं

भलाई करूँगा, कृतघ्न निकलेगा और मेरे विरुद्ध चलेगा और इसका मेरे लिये परिणाम तो दुःख ही होगा। ऐसी घटनाएँ मनुष्य को कर्म करने से दूर भगाती हैं। इस दुःख और कष्ट के डर से मानव जाति के कर्मों के बहुत से अंश का और शक्ति का नाश होता है। कर्मयोग सिखाता है केवल कर्म के लिये कर्म करना तथा आसक्ति रहित होकर, किसको सहायता मिलती है और किस लिये कर्म किया जाता है इन सब बातों की ओर ध्यान दिये बिना ही कर्म करना। कर्मयोगी इसीलिये कर्म करता है कि कर्म करना उसका स्वभाव है, इसीलिये कि वह अनुभव करता है कि कर्म करना उसके लिये अच्छी बात है और इसके परे उसका कोई हेतु नहीं है। उसकी अवस्था इस संसार में एक दाता के समान है; वह कुछ पाने की तो चिन्ता ही नहीं करता। वह जानता है कि मैं दे रहा हूँ और बदले में कुछ माँगता नहीं और इसी के कारण वह दुःख के चंगुल में नहीं पड़ता। दुःख का बन्धन जब कभी प्राप्त होता है तो वह 'आसक्ति' के प्रभाव का ही फल-रूप हुआ करता है।

पुनश्च, भावना-प्रधान प्रकृति के प्रेमी मनुष्य के लिये भक्तियोग है। वह ईश्वर पर प्रेम करता है और वह सभी प्रकार के मंत्र, पुष्प, गंध, सुन्दर मन्दिर, मूर्तियाँ आदि पर भरोसा रखता है और उन सबका उपयोग करता है। क्या आप समझते हैं कि वे गलती कर रहे हैं? आपको एक बात बता देना चाहिये। विशेष कर इस देश में यह स्मरण रखना आपके लिये अच्छा होगा कि संसार की

महान् आध्यात्मिक विभूतियाँ उन्हीं पंथों में उत्पन्न हुई हैं, जिनके पास बहुत समृद्ध पौराणिक कथा और कर्मविधियों का भाण्डार रहा है। वे पंथ जो ईश्वर की पूजा, बिना मूर्ति और बिना विधि के ही, करने का प्रयत्न करते हैं, वे, धर्म में जो कुछ भी सौन्दर्य और माधुरी पाई जाती है उन सब को निर्दयता पूर्वक कुचल डालते हैं। उनका धर्म अधिक से अधिक धर्मान्धता, एक शुष्क, रसहीन वस्तु रही है। संसार का इतिहास इस घटना का सजीव साक्षी है। अतः इन विधियों और पौराणिक कथाओं का तिरस्कार मत करो। लोग इसे रखे रहें। जिन्हें इसकी इच्छा है, उन्हें इसे रखने दो। उस पर अनुचित तिरस्कारयुक्त हँसी का भाव भी मत प्रकट करो, और यह न कहो "कि वे मूर्ख हैं, उनके पास इन बातों को रहने दें।" ऐसा नहीं है। बड़े बड़े महात्मा जिनका दर्शन मैंने अपने जीवन में किया है, जिनकी आध्यात्मिक प्रगति अत्यन्त अद्भुत थी, वे इन्हीं कर्म और विधियों की शिक्षा से उस उच्चावस्था को प्राप्त हुये हैं। मैं अपने को उनके चरणों के समीप बैठने के योग्य नहीं पाता; फिर 'मैं' 'उनकी' समालोचना करूँ! मैं यह कैसे जानूँ कि ये विचार मनुष्य के मन पर किस प्रकार प्रभाव डालते हैं। इनमें से किसको मैं ग्रहण करूँ और किसको त्याग दूँ? हम संसार की सभी वस्तुओं की बिना पर्याप्त कारण के ही टीका-टिप्पणी करने लग जाते हैं। लोग जिन पौराणिक कथाओं को चाहें, उन्हें वे रखें, उनकी स्फूर्तिदायक सुंदर शिक्षाओं को ग्रहण करें; क्योंकि यह सदा स्मरण

रखना चाहिये कि भावनाप्रधान प्रकृति वाले सत्य की शुष्क परिभाषाओं की परवाह नहीं करते। उनके लिये ईश्वर तो एक मूर्त वस्तु है और वही एक मात्र सत् है। वे उसका अनुभव करते हैं, उसकी बात श्रवण करते हैं, उसे देखते हैं और उस से प्रेम करते हैं। वे अपने ईश्वर को रखे रहें। आपका तर्कवादी उनको उस मूर्ख के समान जँचता है जो एक सुंदर मूर्ति को देखकर यह जानने के लिये उसे तोड़ना चाहता है कि वह मूर्ति किस द्रव्य की बनी है। भक्तियोग उन्हें यही सिखाता है कि बिना किसी स्वार्थयुक्त उद्देश के ईश्वर से किस तरह प्रेम करना चाहिये। ईश्वर से प्रेम के लिये ही प्रेम करना चाहिये और ईश्वर से प्रेम इसलिये करना चाहिये क्योंकि ऐसा करना अच्छी बात है। स्वर्ग पाने के लिये या सन्तति, सम्पत्ति या अन्य किसी कामना की पूर्ति के लिये नहीं। वह यह सिखाता है कि प्रेम का सबसे बढ़कर बदला प्रेम ही है, और स्वयं ईश्वर प्रेमस्वरूप है। वह उन्हें ईश्वर के प्रति उसे सृष्टिकर्ता सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् शासक, पिता और माता जानकर हर प्रकार के गुण अर्पित करना सिखाता है। सबसे बढ़कर वाक्य जो ईश्वर का वर्णन कर सकता है, सबसे बढ़कर कल्पना जिसे मनुष्य का मन ईश्वर के विषय में ग्रहण कर सकता है, वह यही है कि परमेश्वर प्रेमस्वरूप है। जहाँ कहीं प्रेम है वहाँ परमेश्वर है। "जहाँ कहीं प्रेम है, वहाँ वह है, वहाँ ईश्वर विद्यमान है।" जब पति पत्नी का चुम्बन करता है, तो वहाँ उस चुम्बन में वह ईश्वर है। माता बच्चे को चूमती है, उस चुम्बन में

भी ईश्वर है। जब दो मित्र हाथ मिलाते हैं तब वहाँ परमात्मा प्रेम-मय ईश्वर के रूप में विद्यमान है। जब एक महान् व्यक्ति प्रेम करता है और जब वह मानव जाति की सहायता करना चाहता है, तब वह ईश्वर अपना दान मुक्तहस्त होकर मानव जाति के प्रति अपने प्रेम के कारण देता है। जब कभी हृदय खिलता है, तब वह ईश्वर वहाँ प्रकट होता है—यही भक्तियोग की शिक्षा है।

अन्त में हम ज्ञानयोग का विषय लेते हैं। ज्ञानयोगी दार्शनिक है, विचारशील है और दृश्य जगत् के परे जाने का इच्छुक है। वह इस संसार की छोटी छोटी वस्तुओं से सन्तुष्ट होने वाला मनुष्य नहीं है। उसकी धारणा है कि खानपान आदि दैनिक जीवन के परे जाना होगा। सहस्रों ग्रंथों की शिक्षा से भी उसे सन्तोष नहीं है। समस्त विज्ञानशास्त्र भी उसे सन्तुष्ट नहीं कर सकते। अधिक से अधिक ये शास्त्र उसके सामने इस छोटे से संसार को ही ला सकते हैं। तब फिर कौनसी दूसरी वस्तु उसे सन्तोष देगी? करोड़ों विश्व-ब्रह्माण्ड भी उसके सन्तोष के कारण नहीं बन सकते; वे तो उसके लिये सत्ता के समुद्र में केवल एक बिन्दुवत् हैं। उसकी आत्मा उन सबके परे, सत्य को ठीक जैसा वह है वैसा ही देखकर, उस सत्य का अनुभव करके,—वह सत्य बनकर, उस सर्वव्यापी परमात्मा के साथ एक होकर, उसके वास्तविक स्वरूप में प्रवेश करना चाहती है। वही तो दार्शनिक है; यह कहना कि ईश्वर पिता है या माता है, इस विश्व का स्रष्टा, उसका रक्षक और गुरु है

उसकी दृष्टि में उस ईश्वर के वर्णन करने के लिये बिलकुल अपर्याप्त है। उसके लिये तो ईश्वर उसके जीवन का जीवन है, उसकी आत्मा की आत्मा है। ईश्वर उसकी स्वयं आत्मा है। ऐसी कोई अन्य वस्तु शेष ही नहीं रह जाती जो ईश्वर न हो। उसके व्यक्तित्व के सभी मरणशील अंग दर्शनशास्त्र के प्रबल आघातों से चूर्ण होकर उड़ जाते हैं। और अन्त में सचमुच जो शेष रह जाता है वह स्वयं ईश्वर है।

उसी एक वृक्ष पर दो पक्षी हैं*—एक चोटी पर और दूसरा नीचे। चोटी पर रहने वाला पक्षी शान्त, मौन और श्री सम्पन्न, अपने ही ऐश्वर्य में मग्न है। नीचे की शाखाओं पर रहनेवाला पक्षी, बारी बारी से मधुर और कटु फल खाता हुआ, शाखा से शाखा पर फुदकता हुआ बारी बारी से सुखी और दुःखी हो रहा है। कुछ काल के पश्चात् नीचे वाला पक्षी अत्यन्त कटु फल खाकर त्रस्त हो जाता है और ऊपर की ओर वहाँ उस स्वर्ण पंख वाले अद्भुत पक्षी को देखता है जो न तो मधुर फल खाता है, न कड़ुआ ही, न सुखी है न दुःखी,—वह शान्त, अपने आप में ही मग्न है और अपनी आत्मा के परे कुछ नहीं देखता है। नीचे वाला पक्षी उसी स्थिति की

---

* द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥
—मुण्डकोपनिषद्, ३।१।१-२

आकांक्षा करता है, पर शीघ्र ही उस बात को भूल जाता है और पुनः फल खाना आरम्भ कर देता है। कुछ समय में वह और भी दूसरा अत्यन्त कडुआ फल खाता है, जिसके कारण उसे दुःख का अनुभव होता है, वह पुनः ऊपर देखता है और उस ऊपर वाले पक्षी के कुछ समीप पहुँचने का प्रयत्न करता है। पुनश्च एक बार उसे विस्मरण हो जाता है और कुछ समय के बाद वह ऊपर दृष्टि डालता है और इसी प्रकार वह बार-बार आगे बढ़ता है, यहाँ तक कि वह उस सुंदर पक्षी के अत्यन्त समीप पहुँच जाता है; उस समय वह देखता है कि उस पक्षी के शरीर और पंख से सुंदर प्रकाश की आभा इसके अपने ही शरीर के आसपास खेल रही है। अब इस पक्षी को अपने में परिवर्तन का अनुभव होता है और वह मानो पिघलने लगता है; अब यह और भी निकट जाता है और उसके आसपास की सभी वस्तुएँ पिघल जाती हैं। अन्त में वह इस अद्भुत परिवर्तन को समझ पाता है कि वह मानो ऊपरवाले की भावरूप छाया, प्रतिबिम्ब ही था। वह स्वयं ही स्वरूपतः सदा ऊपर का पक्षी था। मधुर और कटु फलों का यह भक्षण, यह नीचेवाला छोटा पक्षी, बारी-बारी से रोना और आनंदित होना, यह सब केवल मिथ्या आभास एक स्वप्न मात्र था। सच्चा पक्षी शान्त और मौन, तेजस्वी और ऐश्वर्य-सम्पन्न, दुःख और शोक के परे सदैव ऊपर बैठा था। ऊपरवाला पक्षी, इस विश्व का प्रभु ईश्वर है और नीचेवाला पक्षी,

इस संसार के मधुर और कटु फलों का भक्षक जीवात्मा है। जब आत्मा पर कठोर आघात होता है तो कुछ समय के लिये वह फल खाना बंद करके उस अज्ञात ईश्वर की ओर बढ़ता है और प्रकाश की बाढ़ सामने आती है। तब वह सोचता है कि यह संसार मिथ्या दृश्य है। फिर भी इन्द्रियाँ उसे नीचे खींच लाती हैं और वह पूर्ववत् संसार के मीठे और कडुए फलों को खाना आरम्भ कर देता है। पुनः उसे अत्यन्त दुःसह दुःख का आघात प्राप्त होता है। उसका हृदय ईश्वरी प्रकाश के लिये पुनः खुल जाता है। इस प्रकार वह क्रमशः ईश्वर की ओर आने लगता है और अधिकाधिक समीप पहुँच जाता है, तब वह अपनी पुरानी आत्मा को पिघलते हुए पाता है। जब वह अत्यन्त समीप आ जाता है, तब वह देखता है कि वह स्वयं ईश्वर के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, और कह उठता है, "मैंने तुम्हारे समक्ष जिसे इस विश्व का प्राण, प्रत्येक अणु में तथा सूर्यों और चन्द्रों में वर्तमान बताकर वर्णन किया है, वही ईश्वर हमारे जीवन का आधार है, हमारी आत्मा की आत्मा है; नहीं, तुम ही वह हो—तत्त्वमसि।"* यही शिक्षा ज्ञानयोग देता है। वह मनुष्य को यह बताता है कि वह स्वरूपतः ब्रह्म ही है। वह मानव जाति को सत्ता की यथार्थ एकता दिखलाता है और यह सिखाता है कि हममें से प्रत्येक स्वयं प्रभु ईश्वर ही पृथ्वी पर प्रकट हुआ है। हम सभी, हमारे पैरों के नीचे रेंगने वाले अति क्षुद्र कीट से लेकर, हम

* स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।

—छांदोग्य उपनिषद्, ६।७।८

जिनकी ओर आश्चर्य और आदरपूर्वक देखते हैं ऐसे उच्च महात्माओं तक, सभी उसी प्रभु के प्रकाश हैं।

अन्त में मैं यह बताना चाहता हूँ कि इन सभी विभिन्न योगों के अनुसार प्रत्यक्ष व्यवहार में आचरण करना अत्यन्त आवश्यक है; केवल तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों से कोई लाभ नहीं हो सकता। पहले उनके विषय में श्रवण करना चाहिये, तत्पश्चात् उनका मनन करना चाहिये। हमें उन विचारों को तर्क द्वारा समझना चाहिये, अपने मनों पर उन्हें अंकित करना चाहिये और उनका निदिध्यासन करके अपरोक्ष अनुभव करना चाहिये जिससे कि अन्ततो गत्वा वे हमारे सम्पूर्ण जीवन ही बन जायँ। तब तो धर्म, विचारों या सिद्धान्तों की एक गठरी ही मात्र नहीं रहेगा, न वह और केवल बौद्धिक सम्मति ही मात्र होगा; वह तो हमारी प्रत्यक्ष आत्मा में ही प्रविष्ट हो जायगा। बौद्धिक सम्मति द्वारा हम आज बहुतेरे मूर्खता भरे विषयों को भले ही ग्रहण कर लें और कल अपने विचारों को बिलकुल ही बदल डालें, पर यथार्थ धर्म कभी नहीं बदल सकता। धर्म साक्षात्कार है; बोलने की वस्तु नहीं, न वह मत है और न वह सिद्धान्तों का समूह ही है, चाहे वे कितने भी सुंदर क्यों न दिखते हों। धर्म तो परब्रह्म है, परब्रह्म से एकरूप होना है; श्रवण करना और स्वीकृति देना नहीं, वरन् वह तो आत्मा का श्रद्धा के विषय–परमात्मा–में सम्पूर्ण रूप से परिवर्तित, एकरूप हो जाना ही है। यही तो यथार्थ धर्म है।

॥ समाप्त ॥

हमारे अन्य प्रकाशन

हिन्दी विभाग

१-३ श्रीरामकृष्णवचनामृत–तीन भागों में–अनु० पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रथम भाग (द्वितीय संस्करण)—मूल्य ६); द्वितीय भाग—मूल्य ६); तृतीय भाग—मूल्य ७॥)

४-५. श्रीरामकृष्णलीलामृत—(विस्तृत जीवनी)—(द्वितीय संस्करण)—दो भागो में, प्रत्येक भाग का मूल्य ... ... ५)

६. विवेकानन्द-चरित्र–(विस्तृत जीवनी)–सत्येन्द्रनाथ मजूमदार, मूल्य ६)

७. विवेकानन्दजी के संग में-(वार्तालाप)-शिष्य शरच्चन्द्र, द्वि. सं. मूल्य ५)

स्वामी विवेकानन्द कृत पुस्तकें

८. भारत म विवेकानन्द--(विवेकानन्दजी के भारतीय व्याख्यान) ५)

९. पत्रावली (प्रथम भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
१०. पत्रावली (द्वितीय भाग)	(प्रथम संस्करण)	२=)
११. धर्मविज्ञान	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१२. कर्मयोग	(द्वितीय संस्करण)	१॥=)
१३. प्रेमयोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१४. भक्तियोग	(तृतीय संस्करण)	१।=)
१५. आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग	(तृतीय संस्करण)	१।)
१६. परिव्राजक	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१७. प्राच्य और पाश्चात्य	(चतुर्थ संस्करण)	१।)
१८. महापुरुषों की जीवनगाथायें	(प्रथम संस्करण)	१।)
१९. राजयोग	(प्रथम संस्करण)	१=)
२०. स्वाधीन भारत! जय हो!	(प्रथम संस्करण)	१=)
२१. धर्मरहस्य	(प्रथम संस्करण)	१)
२२. भारतीय नारी	(प्रथम संस्करण)	॥।)
२३. शिक्षा	(प्रथम संस्करण)	॥=)
२४. शिकागो वक्तृता	(पञ्चम संस्करण)	॥=)
२५ हिन्दू धर्म के पक्ष में	(द्वितीय संस्करण)	॥=)

२६. मेरे गुरुदेव (चतुर्थ संस्करण) ।।=)
२७. कवितावली (प्रथम संस्करण) ।।=)
२८. वर्तमान भारत (तृतीय संस्करण) ।।)
२९. पवहारी बाबा (द्वितीय संस्करण) ।।)
३०. मेरा जीवन तथा ध्येय (द्वितीय संस्करण) ।।)
३१ मरणोत्तर जीवन (द्वितीय संस्करण) ।।)
३२. मन की शक्तियाँ तथा जीवनगठन की साधनायें ।।)
३३. भगवान रामकृष्ण धर्म तथा संघ—स्वामी विवेकानन्द, स्वामी शारदानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी शिवानन्द; मूल्य ।।=)
३४. मेरी समर-नीति (प्रथम संस्करण) ।≡)
३५. ईशदूत ईसा (प्रथम संस्करण) ।=)
३६. विवेकानन्दजी की कथायें (प्रथम संस्करण) १।)
३७. परमार्थ-प्रसंग—स्वामी विरजानन्द, (आर्ट पेपर पर छपी हुई)
कपड़े की जिल्द, मूल्य ३।।।)
कार्डबोर्ड की जिल्द ,, ३।)
३८. श्रीरामकृष्ण उपदेश (प्रथम संस्करण) ।।=)

मराठी विभाग

१–२. श्रीरामकृष्ण-चरित्र—प्रथम भाग (तिसरी आवृत्ति) ३।)
द्वितीय भाग, (दुसरी आवृत्ति) ३।)
३. श्रीरामकृष्ण-वाक्सुधा—(दुसरी आवृत्ति) ।।।=)
४. शिकागो-व्याख्यानें —(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।=)
५. माझे गुरुदेव —(दुसरी आवृत्ति)—स्वामी विवेकानंद ।।=)
६. हिंदु-धर्माचें नव-जागरण—स्वामी विवेकानंद ।।–)
७. पवहारी बाबा—स्वामी विवेकानंद ।।)
८. साधु नागमहाशय-चरित्र (भगवान श्रीरामकृष्णांचे सुप्रसिद्ध शिष्य) (दुसरी आवृत्ति) २)

श्रीरामकृष्ण आश्रम, धन्तोली, नागपुर-१, मध्यप्रदेश